ISSN-2231-3885 SAMVED

संवेद-87-88

वर्ष 6, अंक 4-5, अप्रैल-मई, 2015

बचाने का यत्न

मैथिली कवि जीवकान्त की रचनाएँ

अतिथि सम्पादक : तारानन्द वियोगी

सम्पादक

किशन कालजयी

अनुक्रम

सम्पादकीय

जीवकान्त और जीवन के रास्ते

''नहीं, ज्यादा रंग नहीं
बहुत थोड़ा-सा रंग लेना
रंग लेना जैसे बेली का फूल लेता है शाम को
रंग लेना बस जितना जरूरी हो जीवन के लिए
रंग लेते हैं जितना आम के पत्ते
नये कलश में।

नहीं नहीं, ज्यादा गन्ध नहीं
गन्ध लेना बहुत थोड़ी-सी
बहुत थोड़ी-सी गन्ध जितनी नीम-चमेली के फूल लेते हैं
गन्ध उतनी ही ठीक जितनी जरूरी हो जीवन के लिए
गन्ध जितनी आम के मंजर लेते हैं।

नहीं, बहुत शब्द नहीं
जोरदार आवाज नहीं
आवाज लेना जितनी गोरैया लेती है अपने प्रियतम के लिए
आवश्यक हो जितनी जीवन के लिए
आवाज उतनी ही
जिसमें बात करते हैं पीपल के पत्ते हवा से
थोड़ी-सी आवाज लेना
जितनी कि आँगन का जांता गेहूँ के लिए लेता है।

जीवन के रास्ते हैं बड़े सीधे
दिखावा नहीं, बिल्कुल दिखावा नहीं
बरसता-भिगोता बादल होता है जीवन

बरसते बादल में लेकिन रंग होते हैं बहुत थोड़े
ध्वनि होती है साधारण
गन्ध भी होती है उसमें
विरल गन्ध।''

यह एक मुकम्मल मैथिली कविता है, जो जीवकान्त ने अपने निवास ड्योढ़, घोघरडीहा, मधुबनी से दिनांक 1 अप्रैल, 1996 को एक अन्तर्देशीय पत्र में मुझे लिख भेजी थी। उसी दिन, उसी समय उन्होंने अपनी यह कविता लिखी थी, बिल्कुल ताजा-ताजा।

यह उनकी पुरानी आदत थी। जिस समय वह कविता लिखते होते थे, कविता पूरी कर लेने के बाद भी कविता का आवेग काफी देर तक उन पर बना रहता था। इस आवेग से बाहर निकलने के लिए अक्सर वह अपने प्रियपात्रों के व्यक्तिगत पत्र में वह कविता एक बार फिर से लिख डालते थे। कई बार तो यह भी होता कि वह कविता एक ही साथ कई-कई मित्रों को भेजी जाती। इसके जिए बजाफ्ता वह थिन पेपर और कार्बन अपने पास रखते थे। कविता और कविता को लिखने-समझने वाले लोग बहुत ही गहराई से उनके जीवन में शामिल थे। दुष्यन्त ने यह जो लिखा है—''मैं जिसे ओढ़ता-बिछाता हूँ/वो गजल आपको सुनाता हूँ।'—यह बात जीवकान्त पर पूरी तरह से लागू होती थी। जीवन जीने की उनकी शैली और दुनिया को देखने का उनका नजरिया, ये कुछ इस तरह थे कि कविता ही उनके जीवन का नाभि-केन्द्र थी। वहाँ से वह विभिन्न दिशाओं में गमन करते, रोजमर्रा के अपने काम निबटाते, सरकारी नौकरी के कर्तव्य निभाते, सामाजिक दायित्वों का निर्वहन करते, और यह सब करते हुए भी एक काव्यमयता उन पर तारी रहती। और, यह पूरा कर लेने के बाद तो निश्चिन्त होकर अपने नाभि-केन्द्र पर लौट ही आते थे। एक बार उन्होंने मुझे लिखा था कि यदि अच्छा लिखने का लोभ छोड़ दें तो प्रतिदिन दस कविताएँ, दो कहानियाँ और तीन लेख वह लिख सकते थे।

जीवकान्त ने अपने जीवन-निर्माण के सम्बन्ध में जो विवरण अपनी संस्मरण-पुस्तकों में दिये हैं, उनसे एक बात साफ-साफ उभरकर आती है कि एक सर्वसाधारण, एक आम आदमी की मनोनिर्मिति उन्होंने पायी थी। कुछ भी खास नहीं, कुछ भी स्पेशल नहीं। जैसे सभी, ठीक वैसे वह भी। उसमें भी कुछ दबे-दबे, कुचले-कुचले-से। छोटी उमर में थे तभी उनके पिता चल बसे थे। वह भी कुछ इस तरह कि छह महीनों तक लगातार उन्होंने बिल्कुल पास रहकर अपने पिता को तिल-तिलकर मरते हुए देखा था। पाँच लोगों के परिवार की जिम्मेवारी उसी उमर में सिर पर आ गयी थी। बहुत आगे तक की पढ़ाई करना चाहते थे, नहीं कर पाये। गाँव में रहकर, किसानी संस्कृति में रच-बसकर जिन्दगी बसर करना चाहते थे, नहीं कर पाये। शुद्ध हृदय और निश्छल मन पाया था, चाहते थे कि इसके बावजूद एक सुखी-शान्त सामाजिक

जीवन उन्हें मयस्सर हो। मगर, युवापा का अधिकांश टुटन और मोहभंग में ही व्यतीत हुआ। नौकरी करनी पड़ी। गाँव छोड़ना पड़ा। छूटा तो था केवल अपना गाँव, मगर महसूस ऐसा करते जैसे पूरा जीवन ही छूट गया हो। वह स्कूल-मास्टर हुए। सोचा था, थोड़े पैसे जुट जाएँ तो नौकरी छोड़कर आगे पढ़ाई करेंगे, लेकिन वह समय कभी आने वाला नहीं था। ऐसे ही घिसट-घिसटकर नौकरी चल रही थी कि अचानक एक जबर्दस्त उछाल आया, जिसने उनकी जिन्दगी बदल दी। वह कविता लिखने लगे। यह उछाल यूँ ही बैठे-ठाले आ गया हो, ऐसा नहीं था। तीस बरस की उमर में, पूरे होशो-हवाश के साथ और परिपक्व समझदारी के साथ उन्होंने निर्णय लिया था कि वह कविता लिखेंगे। कविता मतलब सिर्फ कविता नहीं, साहित्य। उनकी पहली कविता जब 'मिथिला मिहिर' में छपकर आयी थी, तो जो उन्होंने महसूस किया था, उन्हीं के शब्दों में—''देखकर मैं अवाक रह गया था। मैथिली की पत्रिका में मेरी कविता छपी थी। मुझे अपनी ही आँखों पर विश्वास नहीं हो रहा था। एक बहुत बड़ी घटना घट गयी थी। मेरे जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना, जिसने मेरे जीवन के अनेकानेक वर्षों को कर्मण्यता से, यश से, सम्मान से, अपमान से, संवाद और विवाद से भर देने के लिए अपना आगमन प्राप्त कर लिया था। यह सारा कुछ चुपचाप हुआ था, लेकिन वह मेरा सम्पूर्ण भविष्य था जो हजार-हजार शब्दों की ध्वनि से, ध्वनियों के आयोजन से सारे आकाश को भरने के लिए आ गया था।''

सोचकर देखें तो यह दुर्लभ किस्म की घटना थी। अधिकतर कवि बचपन से ही कविता लिखते होते हैं, उसी उमर से, जब उन्हें ठीक-ठीक पता भी नहीं होता कि वे क्यों लिख रहे हैं। जीवकान्त के साथ यह बात नहीं हुई थी। अपने किसी आत्म-लेख में उन्होंने जिक्र किया है कि उदासी के उन वर्षों में वह अधिकतर जब यह सोचा करते कि जीवन की सार्थकता क्या है, और आदमी आखिर क्या छोड़कर जाएगा, और समाज से आदमी ने जो कुछ पाया है उससे उऋण होने का रास्ता क्या है, और रोजी-रोटी की जरूरतों के बीच आखिर आदमी की एक सामाजिक जिम्मेवारी भी होती है उसका निर्वाह कैसे किया जाय, मानवता के प्रति एक आदमी का जो दायित्व है, उसका निर्वाह कैसे, किस विधि से किया जा सकता है आदि-आदि; इन्हीं सारे प्रश्नों से जूझते हुए साहित्य रचने का विचार उनके भीतर आया था। इस विचार के आने मात्र से वह ऊर्जस्वित हो गये थे, इसका जिक्र भी उन्होंने किया है।

साहित्य पढ़ने की ललक जीवकान्त में बचपन से ही थी। उन्होंने ऐसे वाकये लिखे हैं, जिनसे पता चलता है कि साहित्य की उनकी समझ काफी शुरू से ही औसत से ज्यादा थी और पितृहीनता, गरीबी, एकान्तप्रियता कुतूहल आदि ने इसमें एक भावनात्मक ऊष्मा और त्वरा भी भर दी थी। साहित्य-सृजन को वह शुरू से ही एक ऊँची औकात की चीज मानते थे, और साहित्य-रचना के अपने शुरुआती वर्षों में वह इस असमंजस से भी घिरे मिलते थे कि कहाँ साहित्य-सृजेता का ऊँचा आसन

और कहाँ वह अदना-सा जीव, यानी कि जीवकान्त। यही वजह थी कि अपनी पहली कविता को छपा हुआ देख वह अवाक रह गये थे।

जीवकान्त ने लिखा है कि साहित्य-सृजन के साथ उनके जुड़ाव ने उन्हें एक असीम, अन्तहीन पवित्रता से जोड़ दिया। बेहतर है कि उनका अनुभव हम उन्हीं के शब्दों में सुनें—'हृदय में पवित्रता आने से मेरा आनन्द बहुत बढ़ गया। अब, ज्यादातर समय मैं आनन्द में लीन रहने लगा। स्कूल के छात्रों के लिए उदार तो मैं पहले भी था, अब तो समूची मानव-जाति के लिए मेरा हृदय अनुराग से लबालब भर गया। ...कविता-लेखन ने मेरा जीवन ही बदल डाला। अब मैं जैसे कोई दूसरा मनुष्य हो गया था, जिसका लक्ष्य था—सामने उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति को सम्मान देना, प्रत्येक अस्तित्व के लिए अपने हृदय को पवित्र भावों से भरा हुआ रखना, वैसा ही आत्मीय सम्भाषण, वैसी ही आत्मीय सहयोग-भावना। लगता कि जैसे मेरी अपनी कोई आकांक्षा अब रही ही नहीं। दूसरों की आकांक्षा मुझे अपनी दिखती, दूसरों की खुशी मुझे अपनी खुशी लगती।

'स्कूल के बच्चों को इससे बड़ा लाभ हुआ। जो बच्चे उपेक्षित थे, उनकी उपेक्षा दूर हुई। जिसे कोई जानता-पहचानता न था, उसे पहचानने वाला मिला। जिसे किसी भी शिक्षक की छत्रच्छाया उपलब्ध नहीं थी, उसका रक्षक मैं हुआ। जो बच्चे अपने माँ-बाप तक से तिरस्कार पाते थे, उनका सत्कार करता हुआ मैं पाया जाता।...

'किताब पढ़ना, किताब लिखना और छात्रों का सहायक होना—इन चीजों ने मेरे सम्पूर्ण अस्तित्व को ऊर्जा से, उल्लास से, कृतार्थता से, तृप्ति से भर दिया। मुझे महसूस होता—इस पृथ्वी पर सबसे भाग्यशाली और समृद्ध आदमी मैं हूँ।'

कविता किस तरह व्यक्तित्व को रूपान्तरित करती है, इसका दृष्टान्त हम जीवकान्त के जीवनानुभव में देख सकते हैं। कविता के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए एक जमाने में मम्मट भट्ट ने अन्यान्य चीजों के साथ-साथ 'शिवेतर-क्षति' को भी कविता का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन बताया था। कविता को लेकर भारतीय परम्परा की जो परम्परित समझ है, वह भी 'शिवेतर-क्षति' को कविता का सबसे विशिष्ट प्रयोजन मानने के पक्ष में है। शिवेतर-क्षति अर्थात अकल्याण का निवारण। जिन चीजों से जीवकान्त अपने जीवन के शुरुआती वर्षों में घिरे थे, वह अकल्याण ही तो था। सोचकर देखें तो अकल्याण-निवारण की यह घटना इकतरफा कभी भी नहीं घटती। पहले तो यह कवि के जीवन को उदात्त बनाती है, फिर इस उदात्तता को लेकर कविता के पाठकों के पास तक पहुँच जाती है।

कविता से जीवकान्त ने जो कुछ भी विधेय और श्रेण्य चीजें पायी थीं, उन्हें उन्होंने जी भरकर बाँटा। कहते हैं कि बाँटों तो विद्या बढ़ती है, इस बात को भी उनके प्रसंग में हम फलित हुई देखते हैं। इस बँटवारे के लिए उन्होंने तीन-चार तरीके अपना रखे थे। एक तो यह कि वह खूब लिखते थे। कई बार ऐसी अनुभूतियों को

भी लिपिबद्ध कर जाते, जो कविता की उनकी समझ के मुताबिक बहुत नाचीज किस्म की हुआ करती थीं। उन्होंने स्वयं स्पष्टीकरण दिया है—''किताब लिखने की नीयत से मैंने कलम उठायी हो, ऐसा नहीं होता था। छोटे-छोटे मेरे अनुभव थे, मामूली-से, उन्हें ही अनुपम और अनाघ्रात समझकर मैं लिखता जाता था। मैं महसूस करता कि यदि मैं इन्हें लिपिबद्ध न कर दूं तो शायद ये मिट जायेंगे। इच्छा जगती कि लिखकर देखता हूँ कि मेरे लिखने से ये कितना बच पाते हैं, कितने सुरक्षित रह पाते हैं।''

दूसरा तरीका उन्होंने यह अपनाया कि पत्र-लेखन को साहित्य-सृजन के समतुल्य प्रतिष्ठा देते हुए एक 'साहित्यिक कार्य' के रूप में स्वीकार किया। अपने सामाजिक और बौद्धिक दायित्व की पूर्ति के लिए वह साहित्य-लेखन से जुड़े थे। हजारों लेखकों की किताबें उन्होंने पढ़ी थीं, सैकड़ों मनीषियों ने उन्हें प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया था—और इस सबको मिलाकर, सभी का ऋण स्वीकार करते हुए उनके व्यक्तित्व का गठन हुआ था। वह मानते थे कि इस ऋण की अदायगी होनी चाहिए। उनके साहित्य-लेखन पर इस ऋण-अदायगी की धमक भी मौजूद थी, और कविता की अपेक्षा पत्र-लेखन से यह काम बखूबी हो सकता था। पत्र-लेखन के माध्यम से हजारों लोगों से वह सदैव जुड़े रहे, अपने अनुभव साझा करते रहे। मैथिली साहित्य में उनकी सक्रियता के इन चालीस वर्षों के दौरान शायद ही कभी यह हुआ हो कि किसी लेखक की कोई किताब, कोई रचना उन्हें पसन्द आयी हो और उन्हें पत्र लिखकर उन्होंने बधाई, धन्यवाद या फिर अपना उद्‌गार व्यक्त न किया हो। इन चालीस वर्षों में चार-चार बार नयी-नयी युवा-पीढ़ियों का आगमन साहित्य में हुआ, और जीवकान्त इन सभी पीढ़ियों के सभी रचनाकारों से व्यक्तिगत रूप से जुड़े रहे। किसी भाषा की कोई अच्छी किताब उन्होंने पढ़ी होती तो दस मित्रों को, उनकी रुचि को परखते हुए, किताब पढ़ने का सुझाव लिख भेजते। साहित्य में किसी प्रतिभाशाली नवागन्तुक का प्रवेश होता, और उसकी लिखी कोई महत्त्वपूर्ण चीज उनकी नजर से गुजरती तो बीस मित्रों को वह सूचित करते। साहित्य, समाज, संस्कृति को लेकर कोई नया विचार उनके भीतर कौंधता तो वह पच्चीस लोगों से राय-मशविरा करते। कोई दिन ऐसा नहीं होता जब वह दस-पाँच पोस्टकार्ड न लिखते। पोस्टकार्ड खरीदने को लेकर हुए एक मजेदार वाकये का जिक्र उन्होंने किया है। उन्हीं के शब्दों में—'एक दिन डाकघर के किरानी से मैंने कहा—एक सौ पोस्टकार्ड दीजिये। किरानी बाबू ने बॉक्स खोला, लेकिन पोस्टकार्ड नहीं छुआ। अचरज भरी निगाह से मेरी ओर देखते हुए बोले—पोस्टकार्ड के पैसे लगते हैं। मैंने कहा—मुझे पता है। मैं पैसे लेकर आया हूँ। अछता-पछताकर वह बोले—पोस्टकार्ड खरीदने में आप महीने भर का अपना वेतन लगा रहे हैं, लगाइये। लेकिन, एक बात मुझे बता दीजिये कि पूरे महीने आखिर आप गुजारा कैसे कीजियेगा।''

पत्र-लेखन की इस गम्भीर कार्यवाही ने जीवकान्त के व्यक्तित्व को एक बड़ी व्याप्ति दी। उनका समूचा जीवन गाँवों में बीता था। महानगर तो क्या, नगर तक से वह कभी फ्रेंडली न हो सके। अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा था—मैं तो गाछ हूँ, जहाँ रोप दोगे वहीं लगा हुआ मिलूँगा। लेकिन यह सीमा मात्र उनके भौतिक शरीर की थी। उनकी आन्तरिक यात्रा बहुत दूर-दूर तक हुआ करती थी। उनके मतलब की तमाम छोटी-बड़ी सूचनाएँ उन्हें कहीं-न-कहीं से अवश्य ही मिल जाती थीं। उस पर से यह भी था कि हमारे-जैसे कुछ लोग उनसे प्रश्न-दर-प्रश्न करते—लेखक 'गूँगा' क्यों हो जाता है? ऐसा क्यों होता है कि बातें तो हमारे पास ढेर सारी मौजूद रहती हैं मगर लिख हम एक वाक्य तक नहीं पाते? साहित्य की स्वायत्तता क्या सिर्फ एक मिथक है या बात में कुछ दम भी है? लिखने और पढ़ने का अन्तःसम्बन्ध साहित्य-सृजन को किस तरह और किस हद तक प्रभावित करता है? आदि-आदि। और, वह जीवकान्त ही थे जो हर बार पूछे गये प्रश्न का उत्तर बड़े ही धैर्य से, बड़ी ही मित्र-सम्मितता के साथ अपने लम्बे-लम्बे पत्रों में दिया करते थे। भौतिक रूप से हमारे समक्ष उपस्थित न होते हुए भी वह हमारे काम आ सकते थे। वह अद्भुत थे।

लेकिन, उनके द्वारा अपनाया गया तीसरा तरीका काफी आक्रामक था, और काफी हद तक उनके लिए खतरनाक भी, हानिकारक भी। यह था—टिप्पणी-लेखन और वक्तव्य-लेखन। एक मोटे अनुमान के मुताबिक उनकी तीन सौ से अधिक टिप्पणियाँ और वक्तव्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। इनमें से थोड़े ही ऐसे हैं जो साहित्य या कविता के स्थायी मूल्यों या मापदंडों के बारे में हैं, बाकी सभी समकालीन एवं सामयिक मुद्दों पर केन्द्रित हैं। इन सभी में जीवकान्त ने आक्रामक प्रतिपक्ष की भूमिका निभायी है। याद रखना चाहिए कि मिथिला का समाज एक बन्द समाज है, जहाँ की सांस्कृतिक मुख्यधारा पर और साहित्य के प्रतिष्ठानों पर पुरातनपन्थियों का वर्चस्व आज तक कायम है। प्रगतिशीलों के साथ इनकी दुश्मनी यानी नागार्जुन के ही जमाने से चली आ रही है। एक ओर तो ये पुरातनपन्थी और दूसरी ओर उग्र वामपन्थी। जीवकान्त ने कहीं लिखा है कि वह इन दोनों के द्वारा, दोनों ही ओर से पीटे जाते रहे हैं। मुझे याद आता है, 2001 ई. में, जब पहल-सम्मान सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि नरेश सक्सेना को दिया जा रहा था, तो ज्ञानरंजन ने यह इच्छा जाहिर की थी कि यह सम्मान नरेश सक्सेना को जीवकान्त के हाथों प्रदान किया जाय। भोपाल आने के लिए जीवकान्त को तैयार करने में ज्ञानरंजन को दो माह लगातार प्रयास करना पड़ा था—कितने टेलीफोन-कॉल्स और न जाने कितने-कितने पत्र। बाद में, जीवकान्त ने, भोपाल-यात्रा के बाद मुझे पाँच लम्बे-लम्बे पत्र लिखे थे, जो 'भारती-मंडन' में प्रकाशित भी हैं। इन पत्रों में जीवकान्त ने यह रहस्य खोला था कि ज्ञानरंजन-जैसे आत्मीय वरिष्ठ के बार-बार अनुरोध के बावजूद वह क्यों असमंजस

में थे। उन्हें लगता था कि कविता की उनकी मुद्रा और कविता के बारे में उनके दृष्टिकोण वामपन्थियों को पसन्द नहीं आयेंगे। ब्राह्मणवादी आबोहवा में पलने वाले फैशनेबल मैथिल वामपन्थियों को वह देख रहे थे। उन्होंने लिखा है, वह चकित हुए थे उस सम्मान और स्वर-साम्य को पाकर, जो वहाँ उन्हें मिला था। मैथिली में लल्लू-पंजू पुरातनपन्थियों से भी अगर आप मिलें तो पता चलेगा कि वह या तो 'मिथिला-विभूति' सम्मान से सम्मानित है या फिर साहित्य अकादेमी पुरस्कार से पुरस्कृत है। मगर, जीवकान्त को इससे वंचित रखा गया। अन्ततः यह पुरस्कार यदि उन्हें मिला भी तो सिर्फ इसीलिए कि जूरी के मेम्बरों ने प्रतिनिधि के साथ धोखाबाजी की, जिसकी सजा वे (जूरी मेम्बर) आज तक भुगत रहे हैं।

यह सब जीवकान्त के टिप्पणी-लेखन का दंड था। मैथिली के ख्यातनाम आलोचक आज भी आपको मिलेंगे जो जीवकान्त को कायदे का लेखक मानने को तैयार नहीं हैं। इतिहास में जाकर यदि झाँकिये तो पता चलेगा कि जीवकान्त ने कभी कोई टिप्पणी उन पर लिख दी थी, जिसकी आग में वे आज तक जल रहे हैं।

इन डॉक्टर-प्रोफेसर-नामधारी आलोचकों और अकादेमी टाइप प्रतिष्ठानों के बारे में चूड़ान्त सृजेता जीवकान्त की क्या राय थी, यह जानने के लिए उनका एक संस्मरण उन्हीं की जुबानी—

''साहित्य अकादेमी में सदस्य थे डॉ. प्रो. जयकान्त मिश्र। उनके कार्यकाल में सचिव थे केलकर साहब। अकादेमी ने मुझे मैथिली परामर्शदात्री समिति का सदस्य मनोनीत किया। इसकी सूचना केलकर साहब ने मुझे भेजी।

'मैं खजौली में शिक्षक था। छात्रावास के एक कोने में मेरा निवास था। चिट्ठी खोलकर पढ़ रहा था। पास में बैठे थे शिक्षक-मित्र ठाकुर धीरेन्द्र सिंह। उन्होंने पूछा तो मैंने बताया कि बात क्या थी। वह बोले—अब आप सदस्य हो गये, महत्त्वपूर्ण आदमी हो गये।

''मैंने कहा—लेकिन, आप देखियेगा। मैं इसे अस्वीकार करूँगा। इसे लेकर मैं करूँगा क्या? मैं लिखता हूँ। लिखने का काम मुझे पसन्द है, इसलिए लिखता हूँ। इसमें यह क्या मदद करेगा?

'लेकिन, ठाकुर बोले—यह कैसे छोड़ दीजियेगा आप? मैं दावे से कह रहा हूँ इसे आप नहीं छोड़ियेगा।

''मैं उठा। सामने से कागज निकाला और लिखा—मुझे यह प्रस्तावित सदस्यता अपमानमूलक (डेरोगेट्री) लग रही है, अतः मैं इसे अस्वीकृत करता हूँ।

'केलकर साहब ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—यह उत्तरदायित्व तो आपको सम्मान देने की नीयत से दिया गया था, आपको अपमानमूलक कैसे लगा, आश्चर्य की बात है!

'बाद में पता चला कि इस रिक्ति की पूर्ति के लिए मिथिला विश्वविद्यालय के मैथिली विभाग के एक प्रोफेसर को पत्र भेजा गया।''

निश्चय ही, आप कहेंगे—यह अगर जीवकान्त का सौन्दर्य था तो उनकी सीमा भी यही थी। जी हाँ, बिल्कुल। मैं भी यही मानता हूँ। पर, जो था सो था। मैथिली में जीवकान्त का होना एक बहुत ही खूबसूरत बात थी। पूरी-की-पूरी दिखावे की अट्टालिका पर टिकी ब्राह्मणवादी सभ्यता में एक ऐसा आदमी, जो बड़े इत्मिनान से कह सके कि 'दिखावा नहीं, बिल्कुल दिखावा नहीं'। और जिसे बस थोड़ा-सा रंग चाहिए, थोड़ी-सी गन्ध, और बस थोड़े-से शब्द, क्योंकि जीवन के रास्ते वास्तव में, बड़े सीधे हैं।

'संवेद' की यह पुस्तिका मैथिली के इस विराट कवि जीवकान्त की रचनाओं पर केन्द्रित है। विशेष जोर उनकी कविताओं पर है। अनुवाद मेरा किया हुआ है। कवि के गद्य को समझने की नीयत से हम साथ में, उनकी पाँच कहानियाँ, छह टिप्पणियाँ तथा छह पत्र भी दे रहे हैं। कहानियों का अनुवाद स्वयं जीवकान्त, डॉ. सुभाष चन्द्र यादव, डॉ. देवशंकर नवीन, केदार कानन तथा विभा रानी ने किया है। जीवकान्त के निधन के बाद त्वरित टिप्पणी के तौर पर लिखे गये दो नोट्स, जो क्रमशः रमेश थानवी तथा अविनाश ने लिखे हैं, भी दे रहे हैं। कविताओं की संगति में ये नोट्स हमें उपयोगी लगे हैं। उनका एक लम्बा साक्षात्कार भी दिया जा रहा है।

'संवेद' ने बहुत दिन पहले भी एक बार इसी प्रकार की योजना जीवकान्त को लेकर बनायी थी। इसकी सूचना स्वयं जीवकान्त के पत्र से मिलती है। 5.9.1997 को केदार कानन के नाम लिखे अपने पत्र में जीवकान्त लिखते हैं—'संवेद मेरी प्रतिनिधि कविताएँ, टिप्पणियाँ, मेरा साक्षात्कार छापना चाहता है। इस आशय का एक पत्र किशन कालजयी ने भेजा है। मैंने उन्हें उत्तर भेजा है जिसमें नारायण जी और केदार कानन का पता भी दिया है। उन्हें कहा है कि इन दोनों मित्रों को प्रतिनिधि कविताएँ चुनने की जिम्मेवारी दी जाए तथा साक्षात्कार हेतु प्रश्नावली प्रस्तुत करने कहा जाए।'

'संवेद' के लिए सन्तोष की बात है कि किन्हीं कारणों से उन दिनों जो नहीं हो सका, वह अब हो पा रहा है।

उम्मीद है, जीवकान्त को पढ़ना आपको अच्छा लगेगा।

—तारानन्द वियोगी

जीवकान्त की कविताएँ

तान रखा सिर बूढ़े पीपल ने

पीपल ने तान रखा है अपना सिर
देखो, हजार गाछों की फुनगियाँ पड़ गयी हैं छोटी।
सिर तान रखा है पीपल ने इस बस्ती में,
जहाँ लोग बबूल बोने में दिन-रात रहते हैं व्यस्त।
देखो, पीपल की फुनगी दीखती है
महावीरी ध्वजा से भी कितना ऊपर!

इस पीपल को बोया था नीलकंठ चिड़िया ने
याज्ञवल्क्य ऋषि ने की थी रखवाली,
धरती की कोख ने जोगा था इसका बीज,
तब की बात ठहरी यह
जब घोड़े से तेज वाहन नहीं था पृथ्वी पर।

देखो, धुन्ध फैला है किस तरह चतुर्दिक
दिशाओं में व्याप्त नीलवर्ण धुआँ
धुन्ध में धुएँ का मिश्रण देखो
कि गंगाजल तक बचा नहीं मुँह में डालने योग्य।

हर तरह के गाछ पर चलाकर कुल्हाड़ी
लुटेरे बनवा रहे हैं अपने शानदार मकान
देश-देश की राजधानियों में।
और यहाँ बचा हुआ है यह बूढ़ा पीपल
बीच बस्ती में
देखो, इतने धुन्ध में भी दिखता है इसका मस्तूल!

पीपल के नीचे स्थापित है
राजा सल्हेस का घोड़ा,
शाम को बेटियाँ आती हैं
जला जाती हैं दीप और अगरबत्ती की काठी,
मोड़ती हैं अपना ठेहुना प्रणति-मुद्रा में
सिर को माटी में सटाकर
माँगती हैं प्राण।

हजार साल पुराना
ग्राम-देवता का यह अधिष्ठान!
हजार-हजार पत्ते
हरे-हरे पत्ते डोलते हैं हवाओं में
और देखा,
किस तरह सिर तान रखा है बूढ़े पीपल ने
जबकि कुल्हाड़ी लिये घूमते हैं लुटेरे
सारी बस्तियों में।

बारिश के सम्मान में

हो रही है बारिश
बज रहा है एक संगीत हवाओं में,
व्याप्त है एक नृत्य
एक-एक गाछ के एक-एक पत्ते में।

सोनू और टूना निकले हैं बाहर
भीगेंगे वे मन-भर, करेंगे छपर-छपर।
छाते को वे खोलेंगे फिर बन्द करेंगे
पैरों से दुलरायेंगे वे पानी को
और कीचड़ को।

भाई रामानाथ जी,
आइये हम भी थोड़ी देर भीगें
जैसे भीग रही हैं गाछ की चिड़ियाँ

आइये, बन्द करें हम थोड़ी देर के लिए
एक से सौ तक की गिनती,
जैसे गीत के राग पर
हिरण छोड़ता है घास टूँगना।

आइये देखें थोड़ी देर हम
यह उत्सव
कि जब प्रकृति चाहती है विश्व का कल्याण,
और, चाहती है
सबके लिए प्राण-दान।

आइये बन्द करें हम थोड़ी देर के लिए
एक से सौ तक की गिनती।

जीवन के रास्ते

नहीं, ज्यादा रंग नहीं
बहुत थोड़ा-सा रंग लेना,
रंग लेना जैसे बेली का फूल लेता है शाम को
रंग लेना बस जितना जरूरी हो जीवन के लिए
रंग लेते हैं जितना आम के पत्ते
नये कलश में।

नहीं-नहीं, ज्यादा गन्ध नहीं
गन्ध लेना बहुत थोड़ी-सी
बहुत थोड़ी-सी गन्ध जितनी नीम-चमेली के फूल लेते हैं
गन्ध उतना ही ठीक जितनी जरूरी हो जीवन के लिए
गन्ध जितनी आम के मंजर लेते हैं।

नहीं, बहुत शब्द नहीं
जोरदार आवाज नहीं
आवाज लेना जितनी गौरैया लेती है अपने प्रियतम के लिए
आवश्यक हो जितनी जीवन के लिए

आवाज बस उतनी जैसे बात करते हैं पीपल के पत्ते हवा से
थोड़ी-सी आवाज लेना
जितनी आँगन का जाँता गेहूँ के लिए लेता है।

जीवन के रास्ते हैं बड़े सीधे
दिखावा नहीं, बिल्कुल दिखावा नहीं
बरसता-भिगोता बादल होता है जीवन
बरसते बादल में लेकिन रंग होते हैं बहुत थोड़े
ध्वनि होती है साधारण
गन्ध भी होती है उसमें
लेकिन, विरल गन्ध।

चरण-चालन ही है अब मुख्य संगीत

करवट बदलने पर भी आह-आह करते हैं
जाने दो अब इन्हें,
उनकी देह पर मकड़जाले का घेरा-ही-घेरा
कैसे सुगबुगायें देह।
दिबड़े की भिंड जमी है देह के चतुर्दिक।
अब जाने दो इन्हें,
अब तो चलाना ही पड़ेगा झाड़ू
इनके भी सिर-ललाट पर। तैयार रहो।

कुत्तों को मना कर दो कि अभी शान्त रहें,
इन्हें किकियाने दें अभी।
डोलते रहें ये किसी अज्ञात पार्श्व-संगीत पर,
पकड़े रहें अपना सिर,
मूँदे रहें अपनी आँख-नाक।
मूँद लें कि कचरा न घुसे।
लेकिन हाँ,
चलाते रहो झाड़ू
झाड़ते रहो मकड़जाला।

करवट बदलने पर भी आह-आह करते हैं,
पड़े हैं इन्तजार में कि संगमर्मर की मूरत हो जाएँ,
पड़े-पड़े हो जाएँ चौराहे का स्मारक
ठंड-धूप-गरमी में होते रहें दग्ध,
लेकिन नहीं, कुछ भी नहीं हो पाएँगे।
ये संगमर्मर की मूरत नहीं हैं
ये जनाब तो गन्धायेंगे,
संगमर्मर नहीं हैं, जाने दो इन्हें
करवट बदलते भी आह-आह करते हैं।

कोई जरूरत नहीं अब पार्श्व-संगीत की,
अपने पैरों की ध्वनि ही अब मुख्य संगीत है।
इन्हें भी दौड़ाओ इसी ताल पर,
कहो उठायें डग,
कहो संगमर्मर नहीं हैं
चलेंगे तो जिन्दा बचेंगे
कहो, गन्धायें नहीं,
निकलें खुद भी मकड़जाले से।
कहो, चरण-चालन ही है अब मुख्य संगीत।

कहो इन्हें!

कृतार्थ

फागुन की प्रभाती धूप में
दाँत बिदोर कर हँसता है
अरहुल का लाल-लाल फूल,
उन टुहटुह फूलों में
आधा मैं हँसता हूँ
आधा आप हँसते हो
हे मरुत!

मैं जब गधे की तरह पीठ पर लादे जाँत
राह में हकमता हूँ,

मेरी छाती में द्विगुणित प्रवेश कर
मजबूत करते हो मेरी छाती,
आप मेरी कितनी मदद करते हो
हे मरुत!

माँ का गला पकड़कर
उसकी नींद चूस लेता है नन्हां बच्चा,
इधर मैं नींद में फैलाये अपनी टाँगें
धीरे-धीरे श्वास लेता हूँ
मैं पकड़े रहता हूँ आपका गला
और आप सतत सटाये मुझे अपनी छाती से
अद्‌भुत माँ हो आप
हे मरुत!

चिड़ियों को देते हो अपनी तलहथी का आधार
आपकी बाँहों पर खिलता है
अरहुल का विस्फुटित फूल,
मैं आपके कन्धों पर विराजमान अनादि से
भागता भी हूँ तो उसी पर
मैं जैसे कोई बनैल सूअर
भागता हुआ भी होता हूँ कृतार्थ
हे मरुत!

नदी नहीं होती मुक्त

नदी नहीं होती मुक्त
कभी भी।
बहुत ऊपर कहीं से फूटती है
और, भागती फिरती है नीचे-नीचे,
होने लगे कभी मन्द
तो कोई और नदी उससे भी बड़ी
समा लेती है उसे
कर डालती है नाम-विहीन,

कैसे हो पायेगी मुक्त?

काटती-छाँटती रहती है सदा खुद अपने को
हमेशा खोजती है उपाय कि दौड़ती-भागती रहे यूँ ही
बाँधते हो यदि नदी को
तो सोच लो, बेकार बाँधते हो,
जब तक उसका जी करे कि स्वीकारे तुम्हारा बन्धन
भोली-भाली दिखेगी तब तक,
और कभी यदि कुपित हो
लाह-बाँह उठा देती है किस तरह, देख चुके हो।

किसी और की क्या कदर करे वह
वह तो खुद अपनी कदर नहीं जानती,
हजार साल का पनबट
त्याग भागती है रातों-रात,
नयी राह चुन लेती है
और भूले से भी ताकती नहीं कभी
अपनी ही पुरानी डगर।

अपना ही कोर-कछेर काटती है खुद
बनाती चलती है खुद ही नये कोर-कछेर
कब मुक्त होगी वह
वह तो खुद में ही डूबी रहती है पूरे समय।

बागमती का कछेर

हमारे देश के कौओं की अपनी बोली है
कानून कहता है उसकी बोली को बोली
लेकिन, इस देश के सुग्गों की अपनी बोली नहीं
उसकी बोली की कोई कदर नहीं कानून में।
सुग्गे, हमारे देश के सुग्गे
बोलते हैं कौओं की बोली
मगर फिर भी

कानूनन न सुग्गे हैं वे, न कौए।

निकले थे एक बार राजा जनक
सुग्गों को अपनी बोली दिलाने
जमुना किनारे के चौबटिया पर बैठ अनशन किया था।

एक बार निकले थे राजा सल्हेस
गंगा और सोन के संगम पर जुटाया था मजमा
लेकिन कानून की लाठी से ठीक कर दिये गये।

लड़े भी थे ये दोनों महामान्य
निकले थे घर से
और काँधामिलानी कर उतरे थे
बागमती के कछेर में
सुग्गों को उनकी भाखा दिलाने खातिर।

जनक और सल्हेस ने अभी
एक युद्ध फॉकलैंड में
और एक युद्ध बेरुत में हारा है,
सुना है उधर ही व्यस्त हैं दोनों
जुटा रहे हैं समानधर्मा,
इसीलिए तो इधर उदास है बागमती का कछेर।

जीवन के लिए रस

देखो, सूख रहा है पानी
इस गड्ढे का।

कुछ तो सोखा हवा ने
सोखा और शुद्ध कर गया,
कुछ सोखा धरती ने
पानी पहुँच गया पाताल
बनने के लिए अमृत।

धरती पर बचे रहेंगे अभी प्राण
देखा तुमने!
हवा सोख रही है गड्ढे का पानी।

बची रहेगी अभी बच्चों की मीठी-मीठी हँसी
देख लो,
धरती सोख रही है अहर्निश पानी
जमा करती जाती है जीवन के लिए रस।

सुबह की मुलाकात

सुबह-सुबह मुलाकात हुई रास्ते में हवा से
चंचल और अलमस्त
पीपल के पत्रों को हाथ से झुलाती
पोखर के जल में पैदा करती हिलकोर।

मुलाकात हुई सूर्य की लाल किरण से सुबह-सुबह
आती-जाती हर एक जगह
हर जगह पहुँचने को बेसब्र
घुस जाने को ढूँढ़ती एक-एक कोना-कनौठा
एक पैर पर कूद-कूद भागती
एक-एक पत्ते पर चमककर हँसती
नन्हीं लहरों पर चमककर होती विलीन।

कमरे में बन्द हवा हो
तो खुजलाती है देह को,
खेत की हवा हिलाती हुए पत्तियाँ
हिलकोरती हुए पोखर का जल
कितने दुलार से छूती है एक-एक रोयाँ।

कमरे की धूप चाँछती है त्वचा
जबकि यही धूप आकाशतले आँगन में

झलकती है बाट में
मन के कपाट में।

नीलकंठ

तुम उड़ते हो नीलकंठ,
तो गगन उड़े है
फैला दो तुम पाँख
तो जैसे पवन हँसे है।
तेरे पंख पहन धरती
मन मगन चले है
नील मनोरम रंग कि तेरे
सूर्य बले है।
रंग-बिरंगे फूल खिले
मह-मह महके है
उड़ते हो तुम नीलकंठ,
तो गगन उड़े है।

शुभ हो यह प्यारी धरती

पनियाले प्रान्तर में जल
और जल-बीच घास
पंछी के झुंड देखो उड़े आकाश,
उड़े और मारा चक्कर भोर के कुहासे में।

वो दूसरा झुंड भी उड़ा
इस्स, दोनों के दोनों शोभित इस चक्रनृत्य में!
चह-चह की आवाज चौदिस व्यापी।

वो देखो, दूसरा उससे जरा ऊपर
दोनों चक्रनृत्य घटित एक ही जगह, एक ही काल
सतह लेकिन भिन्न-भिन्न।

बैठेंगे जब वे तो ठीक उसी पनियाली माटी पर
उड़ेंगे वे तो एक इसी आकाश में
गायेंगे तो बस यही एक गीत–
शुभ हो यह प्यारी धरती
शुभ हो यह आकाश
शुभ हो, शुभ हो
शुभ हो कुहासा और यह सुबह का प्रकाश।

सुगन्ध की जन्म-कथा

नीम चमेली का पौधा ठहरा बड़ा ही शातिर!
साल भर पीयेगा उनचास पवन
पीयेगा सताइस नक्षत्रों का जल,
बीस मेघों से, सात तह धरती से
खींचेगा जीवन-रस,
बारह सूर्यों से ग्रहण करेगा प्रकाश
सोलह चन्द्रों से छान-दान निकालेगा
सितुआ-भर अमृत,
ग्यारह महीनों तक खड़ा रहेगा
अड़ा रहेगा बकलोल-सा
तब जाकर अगहन में खिलायेगा दसेक फूल।

और लेकिन जो हो
फूल में भरा मिलेगा सौरभ
अमृतोपम सुगन्ध
जैसे पृथ्वी पर अवतरित पारिजात।

सुगन्ध जोगनी हो
तो करनी ही पड़ती है तपस्या
लाने ही होते हैं अनेक वस्तुओं से उसके प्राण,
पैदा करना पड़ता है स्वर्ग
सार्थक करना होता है जीवन,
चुप रहना पड़ता है ग्यारह मास

बनना पड़ता है गाछ
नीम चमेली का गाछ।

टेढ़ी-मेढ़ी

पेड़ ने कर लिया है
अपनी डालियों को टेढ़ा-मेढ़ा
गुरुत्वाकर्षण से बचाने के लिए अपनी जान।
पतले-से तार पर सम्हालता है पेड़
अपना पैर, अपना भार।
पत्तों को बना लिया है कहीं छोटा, कहीं सघन
बहुत काम है उसे
भरना है प्राणियों की साँस खातिर वायुमंडल
मवेशियों के लिए चारा
चिड़ियों के लिए घोंसला
कैसे न हो पेड़ की डाल
टेढ़ी-मेढ़ी डाल।

नदी बहती है टेढ़े-मेढ़े
बनाये रखने के लिए अपनी गति।
उसके सिर पर भी कोई कम भार है?
पेड़ों को देना है भोजन
चिड़ियों का कंठ तर करना है
भरना है गेहूँ के घास में
हजार-हजार दाना।
भार से लदी
यह छोटी-सी नदी
टेढ़ी-मेढ़ी नदी।

जंगल

जंगल में चलना तो तभी सम्भव है
कि खुद जंगल हो जाएँ।

राह को कंक्रीट करने से क्या होता है?
दीवार को कंक्रीट करने से क्या होता है?
जंगल तो जंगल है।
जंगल में जाने के लिए जरूरी है
कि देह पर जंगल जनमा लें।
एक लोमड़ी या कि एक भेड़िया
पाल लेने से नहीं कुछ होने वाला,
कुछ नहीं होगा इससे
कि उन्हें जंजीर में बाँध लो
और रास्ते पर घसीटते चलो।

अपने-अपने हाथों में अपनी-अपनी उँगली पहनें
छूयें छुलावें एक-दूजे को अन्तस तक
और मित्र हो जाएँ,
दूसरों की उँगली पहनने से सीधा तो यह है
कि कुत्ते के दाँत पहन लें
और बोलने से तो कहीं अच्छा है कि भौंकें।

अजगर की फटी जीभ के सामने जाएँ
तो अजगर की फटी जीभ ही लेकर जाएँ
चिपक लें एक-दूसरे से दम भर।
अजगर से भागने का क्या अर्थ है!
जंगल में तो चलना तभी सम्भव है
कि जंगल हो जाएँ।

किसान

किसान छिपाता है सृष्टि का बीज गेहूँ में
उसके छूते ही बीज बन जाता है पौधा,
उसका इशारा पा ले
तो भाग चला आता है पानी पौधे की जड़ के पास,
हवा ले आती है मेघ
फिर, घुसती है पौधे के पोर-पोर में
भरती है हरियाली

भर आता है रस।

किसान छूता है गेहूँ का डंठल
तो वहाँ उग आता है अन्न,
वह ईख के धारदार पत्ते छू ले
तो रस भर आता है,
वह छूता है सरसो का तना
और साग-पात में उग आते हैं पीले फूल
पीला गोट।

देखो
किसान खड़ा है जहाँ
ठीक वहीं है विराजमान सृष्टि का केन्द्र,
विधाता की नाभि पर उगा था कभी
सहस्रदल कमल,
उस फूल में उगता है एक मुखारविन्द
उगता है किसान
कमला नदी-तट पर।

आम गाछी का अनाड़ी उत्सव

आम की गाछी ने किया है उत्सव
फागुन के इस दूसरे पक्ष में।

मंजर खिलकर हो गये हैं भारी
डालियाँ झुक-झुक रही हैं
मन्द-मन्द हँसते हैं मिलकर इस उत्सव में।

बिखर रहे हैं सभी दिशाओं में
मंजर के अनेक-अनेक रंग,
लो
जनम रही है उन्मादन गन्ध
खिलते मंजर के कोष-भाग में।

समूचा उत्सव है समर्पित सृजन को,
कि भरेंगे फूल बनेंगे टिकोले के गुच्छे!

क्या गजब! क्या गजब!!
अपनी दोनों ही जेब उलटाकर
झाड़ दिया है गाछी ने,
बचा न रखा कुछ भी!
और, मजे देखो
कि मधुमक्खी बनकर नाचती है सृजन में
इस आयोजन में गाती है उत्सव राग!

उत्सव कितना अनाड़ी होता है!

नाव ने देखा है

नाव में बचे रह जाते हैं कुछ छिद्र
उन्हें बार-बार भरना पड़ता है,
उन छिद्रों में उपस्थित होता है
नाव का कर्मकार।

नाव ने देखी है नीचे
मन्द-धावित नदी की धारा,
ऊपर पुरबा-पछुआ हवाएँ
कभी अन्ध पवन,
कभी झंझावातों के जगाये विशाल थपेड़े,
सब देखा है!

नाव के ऊपर एक नाविक
एक पतवार
एक बोझा फसल
एक गुच्छा बटोही,
नीचे बायाँ-दायाँ डगमग करती नाव!
लेकिन, सब चलता है!

देखी हैं कई बरसातें
जाने कितने ग्रीष्म–
इस छोटी-सी कठही नाव ने!

डूबेगी
वह भी डूबेगी किसी एक दिन,
मगर पानी से निकल आये बाहर–
इसका खयाल तक नहीं।
अभी तो वह बस देख रही है
नीचे मन्द-धावित धारा
सिर पर जलता सूर्य
या फिर, अँधेरी रातों की तारावली,
हवा में तैरते मोटे-मोटे काले मेघ,
सघन श्वेत तुहिन
और,
पीछे छूटता भागता-फलाँगता किनारा!
किनारा–भागता, फलाँगता।
खूब देखा है उसने
बहुत देखा है।

तसलीमा नसरीन की याद

नीलांचन पर्वत पर
ब्रह्मपुत्र के ऐन किनारे
मातृदेवी के गर्भगृह में
कामाख्या की कोख में खड़ा हूँ अभी।
लेकिन,
अभी क्यों याद आ रही हैं
कवयित्री तसलीमा नसरीन?
कहाँ होंगी वह
यूरोप की ठिठुरती ठंडी हवा में?

ओह,

धरती है बीज के लिए
उत्सुक और प्रफुल्ल,
उसकी उत्सुकता को
नष्ट करने का अभिप्राय
व्यर्थ है बिल्कुल।
करेगी ही धारण वह बीज,
हमें तो चाहिए सिर्फ इतना
कि इस धारणा-शक्ति को दें
नीलांचल की उच्चता
मातृदेवी का गौरव।

प्रिया

धरती और आकाश मिलकर भी रच नहीं पाते उतने
जितने रंग तुम्हारी आँखों ने धारे हैं!
हे प्रिया, जंगल और उसके फूल सभी
नहीं जगा पाते उतने मोह और भय,
जितने तुम्हारे मनोरथ में हैं।

निहाई पर हथौड़ी चलाता है सोनार नित्य,
दर्जी कैंची चलाता है अविराम
बड़े-बड़े कारखानों में कीलित होते
फूलों के सौरभ तुम्हारे लिए।
हे प्रिया, मोह जन्माता तुम्हारा स्वरूप
कर डालता है अवाक।
सारी कविताएँ, नाटक सारे
तुम्हें अंकित करने की कोशिश में
हो जाते हैं फीके।

बड़ी ठहरी तुम्हारी महिमा
धरती से, और आकाश से भी।
हे प्रिया,
गला डालती हो तुम सारे रंग, सारी गन्ध

और तब रचती हो एक आकार,
जहाँ पृथ्वी और अन्तरिक्ष का
सम्पूर्ण भविष्य होता है साकार।

भात वह रान्हती है पत्तों से

भरत की माँ चूल्हा पजारती है पत्तों से...
आँधी में टूटकर गिरी पीपल की डाल
वह आग में डालेगी नहीं,
बोलो तो जीभ अपनी कूचेगी
दोनों कान अपने खींचेगी,
मगर पीपल वह आग में डालेगी नहीं
भात रान्हेगी खर-पतवार से।

नहाकर आती है
तो मुँह में अन्न डालते के पहले
पीपल की जड़ में डालती है लोटा-भर पानी
चुल्लू-भर पानी में तुलसी-दल ले
मुँह में रखती है
अन्न के बारे में सोचने से भी पहले।

सुबह-सुबह भागती है
खर-पतवार चुनने जंगल की ओर।
चूल्हा जलाने के लिए वह धरती नहीं कोड़ती,
धरती के पेट से
रंग-रंग के जलावन वह नहीं निकालती
डालने के लिए चूल्हे में।

नवान्न को डाले वह अपने कंठ में
इसके पहले चुटकी-भर अन्न
गाड़ती है धरती में,
अग्नि पर चढ़ाती है मुट्ठी-भर अन्न।

जलावन ढूँढ़ने के लिए भरत की माँ
मिट्टी नहीं खोदती,
भात रान्हती है वह पत्तों की आग से।

बीज

बहुत तपा सूर्य
बहुत ही तपा गाँव
तपे बहुत खेत-उपवन-वृक्ष
पर, आज तो किसान ने खेत में खड़ा किया हल
और बो रहा है बीज,
तुम कुम्हलाये क्यों हो मीत?
धरती ने अब भी खोल रखी है
बीजों के लिए अपनी कोख,
और किसान ने अब भी बेहतर बीज सहेजकर
खेतों के लिए रख रखा है।

तुम जहर उगाते वृक्ष देख रहे हो, है न!
पर, सच मानो
इन्हें किसान ने नहीं सौंपा था माटी को।
और सच मानो
किसान और खेत के बीच
एक और कोई है तीसरा
जो जहर बोता है।
पर देखो मीत,
किसान और खेत के बीच वह तीसरा
लगता है सचमुच
कितना पराया!

भादो के अन्त में

गाँव के रास्ते
भादो के अन्त में हो गये गोबर

दलदल में गोबर
गोंत और जोंक

नदियों में मचलता जल
जल में कुदाल की धार
भादों में खेतों की मेड़ छाँटता है यह जलप्रवाह।

नदी और गाँव के बीच
खेतों में घुट्ठी-भर पानी
पानी के ऊपर सिर उठाये
धान की श्यामल फुनगी
साँवर रंग में खाँटी ऑक्सीजन
धान की फुनगी खोलती है
धरती के बन्द फाटक
धरती की कोख से खींच लायेगी दाने
और हेमन्त की धनखेती में
बजेगी वह झुनुर-झुनुर

भादो के अन्त में धान की यह फुनगी
दिखा रही है धरती की वत्सलता
खोल रही है
भंडार के फाटक।

बचाने का यत्न

बचाने का यत्न करता हूँ
फिर भी नष्ट होते हैं भ्रूण
बचती नहीं बाप के घर में बेटी के लिए जगह
छिन जाता है नवेली दुलहन का मान
अपने ही घर में।

नदी के कछेरों में
पहाड़ की घाटियों में

देश की सीमा बचाने खातिर
जाग्रत हैं सैनिक।

मैं सत्य बचाने के लिए साहूकारों की नगरी छोड़ दूँ
जंगल जागर वास ले लूँ
वह जंगल नहीं बचा अब।
जल और पवन जिस रूप में मिले थे,
वे नष्ट हुए।

खंडित होते हैं नदियों पर बने पुल
भ्रष्ट हो जाता है
मिट्टी के घड़े में सहेजा मुट्ठी-भर सत्तू।

दिन पर दिन बीत जाते हैं हमारे
प्रकाश के इन्तजाम में
शाम को देखो तो
सारी मुट्ठियाँ खाली हैं।

माँ और मेघ

आँगन में नीचे कीचड़ है ऊपर मेघ
लदी है सतहिया बारिश
टप रही है आँगन माँ
उसे इस कोने से उस कोना जाना है
सिर पर धर रखा है सूप उलटाकर
गुजर रही हैं बूँदों की फाँक से होकर
आँगन में भरा है कीचड़
ऊपर लहर रहा है मेघ।

कोठी की कानी पर चूता है पानी
कोठी हुई एकोंस इस भादो में
किन्तु कोठी में रखे हैं बीज
सहेजना है हर हाल में जिन्हें कातिक तक।
कोठी की कानी पर धरती है माँ मटकूरी

फिर एलमुनियम की बरगूनी
अस्तव्यस्त है माँ
बचाना है उसे बीजों को हर हाल में चुआठ से।

घृणा हुई है उसको

किसी की भी कदर नहीं करेगा वह,
आखिर उसके लिए ही क्या किया है इस देश ने?
ताकत है वह बाहर की ओर
सीमा-पार से अभी कोई ग्राहक आयेगा
वह आधे-पौने दाम पर भी बेच देगा
बिक जाये जो भी कुछ!

मिट्टी तेल छिड़ककर वह आग धधका देगा
जला डालना है उसे समूची दुनिया को
नहीं देगा वह किसी को भी आदर
फूँककर लोकतन्त्र की धारणा को
वह लोक-पंचायत तक पहुँचा है
व्यस्त है अभी संविधान को फूँकने में।

उसके भीतर भरी है घृणा
बड़ी-बड़ी नदियाँ फूँकी उसने
बर्फीले पहाड़ के चरणों में विकसित
प्रशस्त हरियाली पट्टी को कर दिया नीलाम
घृणा है उसे बाघ से, हाथी से
घृणा है पोथी से, पुराण से
अपनी देह और जान तक से घृणा है।

जाएगा वह जल्दी ही
पकड़ लिया है उसका रास्ता
लेकिन डूबेगा जब भी
सबको लेकर डूबेगा।

आखिर, घृणा हुई है उसको।

तुम क्या सोचते अभी गाँव के लिए

तुम्हारे पूर्वज वास करने को बनाते थे पर्णकुटी
जल पीते थे अंजुली में,
कमर ढाँपते मृगचर्म से
मूज की रस्सी से बिनते थे उत्तरीय।

हिमालय की बर्फ कहाँ यूँ पिघलती थी!
कहाँ बनती थी यूँ
टोकनी में खदबदाता पानी!

पाटलिपुत्र के उपनगर में
जोड़ना था तुम्हें नौलखा महल,
महल में धरनी थी तिजोरी
अलमारी के ऊपर स्थापित करनी थी
पीतल की मूर्ति
अलमारी के नीचे
चाँदी की तश्तरी,
अलमारी के खानों में रखने थे
बेनामी कागज के बंडल!
सच, तुम्हें कितने काम करने थे
पाटलिपुत्र आने के बाद!

तुम्हारा तो अभी घर भी नहीं भरा था
तुम क्या सोचते अभी गाँव के लिए
देश की जनता के लिए!
तुम्हें अभी फुरसत ही कहाँ मिली थी!
वोट का साल आ जाता है कितनी जल्दी-जल्दी,
आदमी अपना तन भी नहीं ढाँप पाता
देश को कहाँ से ढाँपेगा?

जनता ने चुनकर भेजा था तुम्हें
कि बीज के लिए मयस्सर होगा पानी,
स्कूल की दीवार पर चढ़ेगा खपरैल

अस्पताल में मिल सकेगी थोड़ी रूई
थोड़ा मरहम।

तुम भी कितनी जल्द भूल गये थे सारी बात!
लेकिन, भर जाती तुम्हारी तिजोड़ी पाँच साल में,
वह भी नहीं हुआ।
और, लोग हैं कि गजब के जल्दबाज हैं
न चैन से रहने दे रहे तुम्हें
न करने दे रहे काम!

अंश

मैं देता था व्याख्यान क्लासरूम में
नरेश, तुम अगले बेंच पर बैठे होते थे
सुनते रहते थे मेरा अपलाप।
पीछे से मनोरी
तुम्हारी चूतड़ में काटता था चिकोटी,
मैं देखता मनोरी के होंठों पर पसरी दुष्टता
और यह भी देखता
कि तुम्हारे चेहरे पर कैसे उभर आता था
किसी लँगड़ाती गोरैया का दर्द
मैं देखता था और तुम भी देखते थे।
देखते थे तुम भी
कि मैं भी किसी सही लीक पर ही
नहीं चलता होता था ज्यादातर।

अब नहीं रहा वह क्लास,
तुम कनाडा में हो वैज्ञानिक
और मनोरी दस साल से विधायक बना बैठा है।
मेरे क्लास में जो बच्चे बैठते हैं इन दिनों
तुमसे भी अधिक बुद्धिमान हैं, नरेश!

डरता हूँ मनोरी से
कि किससे किसको कब लड़ा देगा,

तुम भी तो नरेश
विदेश से भेजते रहते हो विस्फोटक बुलेटिन
और रसायन विस्फोटक।

मेरे क्लासरूम में भी होता रहता इन दिनों
विस्फोट पर विस्फोट।
नरेश, जाने क्यों अहसास होता है मुझे अक्सर
कि तुम मेरे अंश हो
और, मनोरी भी है अंश मेरा ही।

ईखवाली गाड़ी के पीछे-पीछे

ईखवाली गाड़ी-गाड़ी के पीछे मत लगाना मुझे
खेत से कोल्हुआर तक के रास्ते में
कोई खींच लेता है एक छड़िया ईख
कोई दो छड़क्का,
रास्ते भर ईख खींचने जुटते रहते हैं
बच्चे और सयाने,
और ले भागते हैं एक छड़िया, दो छड़िया।
कितने को पकड़ूँ
पीछा करूँ कितने का?
पलक की ओट हुई नहीं जरा
कि जैसे आसमान से उतर आता है
कोई शैतान लड़का
और खिंचाखिंची करके
जाने कहाँ बिला जाता है?

मिल जाएँ रास्ते में यदि हकिम-हुक्काम
तो इन्हीं हाथों में खींचकर ईख का छड़िया
भेंट देनी पड़ती है उन्हें।
फिर कोई-न-कार्र निकल आता है ऐसा
जो खुशामद करता रहता है एक छड़िया के लिए
ना कर दो तब भी चुपचाप
चलता चला आता है बैलगाड़ी के पीछे-पीछे

और खा जाता है भेजा
तोड़कर भी दो तो एक टोनी देनी ही पड़ती है उसे।

यह भी कोई काम हुआ बाबा!
गाड़ी के पीछे-पीछे चलने वाला काम!
ईखवाली गाड़ी के पीछे मुझे मत लगाना।

बस्ती की स्त्रियाँ

बस्ती के हजार-हजार घरों में
छिपी पड़ी हैं लाख-लाख चीजें,
उनमें एक चीज हैं स्त्रियाँ।

वे छिपी रहेंगी दिन में
छिपी रहेंगी रात में
सारी स्त्रियाँ एक साथ निकलें
जमा हो जाएँ किसी एक जगह
यह नहीं होगा।
वे अंकित नहीं करेंगी अपनी उपस्थिति।

भात पकाती
बच्चों के अन्न और कमीज का इन्तजाम करती
छोटे-छोटे घरों की नन्हीं-सी जगह
बिता देंगी वे उमर के अस्सी-नब्बे वर्ष।

पके हुए भात को भी निगलेंगी नहीं
घर आये वस्त्रों को भी देह पर नहीं धारेंगी
बक्से में रख देंगी।

पृथ्वी पर हैं सन्ततियाँ
एक-एक सन्तति के पीछे
गला देंगी अनेक स्त्रियाँ अपनी तमाम उमर
धधकेंगी कभी क्रोध से तो सन्तति की खातिर,
कोप-भवन में जा बैठेंगी कभी कैकेयी की तरह

सन्तति के उत्कर्ष-हित बालेंगी मन्दिर में दीप
पहनेंगी बघनखा
भम्होड़ सकेंगी किसी को भी सन्तति की खातिर।

मगर
अंकित करेंगी नहीं
अपनी उपस्थिति।

बस्ती में पीपल

पीपल का पेड़ ठहरा जंगली उद्भिद,
बस्ती में पैदा होकर
रोता है जार-बेज़ार पीपल का पेड़।
ठूँठ हुआ
रहा नहीं अब पंछियों का बसेरा
मुसाफिरों की छाँह नहीं रहा।

आँगन में धूप नहीं आने देता
काटो, इसकी टहनियाँ काटो,
बॉलीबॉल का नेट इसमें बाँधो
उछलो-कूदो तुम
और पेड़ को करो सन्तप्त।

भैंसें बाँधो इसी पीपल के तने में
काँटी और अंकुश ठोंको पागल हाथी की मानिन्द,
धुएँ से धूको केले का घौद
बस्ती पर जनमा यह पीपल ठहरा केले का घौद
धूआँ धूको।

रोता है जंगली उद्भिद जार-बेजार
बस्ती में पैदा होकर,
बरसों-बरसों में भी कभी
हुलसित होता नहीं उसका हिया,

कठुआ गयी है जैसे अहल्या की पीठ
रोता है जार-बेजार।

बस्ती में नदी

यहाँ पहुँचकर ठहर गयी है नदी
लुप्त हुआ प्रवाह
नदी-तट पर बस गयी बस्ती
निगल लिया बस्ती ने नदी का वेग
शोक-सन्तप्त हुई नदी।

सारे घाट खाली हैं
नदी में नहीं नहाते लोग,
नमती हैं गायें
चुभकती हैं भैंसें
नदी में घुसकर बतखें
सिर पर छिड़कती हैं पानी,
लोग नहीं नहाते
लेकिन नदी को अब भी
पवित्र रखा है बतखों ने,
बरतन माँज-माँजकर बेटियों ने
जीवन्त बना रखा है इसे।

छठ के दिन धँसकर नदी में
माँ करती हैं सूर्य को प्रणाम
नदी-जल में प्रवाहित करती हैं माटी के दीप
जलाती हैं अगरबत्ती।

बेहोश है नदी
आँख खोल देखती है जरा देर
जल में प्रवाहित दीपों को,
पल भर में मूँद लेती है फिर से।

शोक-सन्तप्त है नदी।

टूटे पंख की तरह मेघ

कबूतर के टूटे पंख की तरह मेघ
उड़कर चला जाता है कहीं दूर,
मिट्टी में पड़े अंकुर
ताकते हैं सिर उचकाकर
कि इस बार मेघ क्यों पिछड़ा इतना?

बाट-घाट हर कहीं उड़ता है
महीन-महीन बालू।
तालाब में धँसी हैं गाय और उसकी बाछियाँ,
गाय को कीचड़ में फँसी देख
फुदककर भागी हैं सरपट
उसकी अपनी ही सन्ततियाँ।
तालाब के चुल्लू-भर पानी में
छलमल करती बोआरी मछली
ताकती है शून्य आँखों से आकाश—
आ तो लगा सावन
मगर इस कीचड़ में कैसे छोड़े जायें अंडे!

ओह
मेघ हुआ भुलक्कड़
भूला अपना पन्थ
भूला अपनी चर्या।

भागवन्त

भागवन्त हो तुम, बहादुर!
बहुत भागवन्त हो!
भजन गाने को जुटे हो पाँचों मुरती

एक सुर में खोलते हो कंठ
विचारते हो सुर में सुर
कि मिलान में बने रहें श्वास,
सचमुच, बहुत भागवन्त हो!

चारों तरफ ढह रहे हैं प्राचीर
ढीली होती है एक-एक ईंट
झर-झर गिरते हैं पुराने पजाबे
तोड़ लेते हैं अपने ही कान-कयाल।

हर एक आदमी
मुट्ठी में भर ले भागता है चावल
हंडी में बचने नहीं पाता एक भी दाना
कैसे पकेगा भात?
होगा कैसे हरि-बोल—
विष्णुर् विष्णुह हरिर् हरी...

ऐसे में तुम चारों ने अलापा है एक गीत
विचारते हो एक दूसरे की आवाज में मिलान,
फिर विचारते हो
दस श्रोताओं के कान के लिए रस
उठाते हो राग कि उठाते हो स्नेह!
बहुत भागवन्त हो
सचमुच, बहुत भागवन्त हो, बहादुर!

कजरौटी

रोहिणी का एक हाथ तिनमस्सू बच्ची पर
दूसरे हाथ में दिखती है कजरौटी।
न लगे दुष्ट हवाएँ
लगे न दुष्ट आँखें उसकी अँगजा को!
कन्धे पर सोयी है बच्ची
बच्ची की आँख में लगा है काजल

ललाट पर काजल की ठोप
जा रही है रोहिणी बस स्टैंड
पकड़ेगी वह बस।

घरवाले ने कहा था—
छह-छह मास पर लौट-लौट आये
सो उससे नहीं होगा,
अब रोहिणी ने धरा है पिछोड़।
आगे चल रहा है घरवाला
उसके आगे खड़ी है हॉर्न बजाती बस
रोहिणी भाग रही है हबड़-दबड़
चली जा रही है बस की ओर!
उसके एक हाथ में बच्ची जन्मौटी
और, दूसरे में काली कजरौटी।

वसुमती पर चढ़ा है सुहाग

वसुमती पर चढ़ा है सुहाग
हो गयी है वह रंगारंग
उसकी बराबरी नहीं कर पायेगी अभी कोई
न कोई कजरौटी, न सिनुरघोरा,
आओ फोटोग्राफरो!
चारों तरफ से आओ
करो क्लिक क्लिक
रील पर रील चुका दो
वसुमती पर चढ़ा है सुहाग!

धरती से उठता है मेघ
छा लेता है आकाश का कोना-कोना
चमकता है अचानक
सहसा बजता है मेघ, जैसे मृदंग।
झमककर उठी है वसुमती
छा गयी है धरती से आकाश

हो गयी है चपला की आभा
बन गयी है मृदंग के बोल।

कहते हैं प्रजापति—
हे शिव, ग्रहण करो उमा के पाणि
समूची धरती खाली है
खाली है चारों कोना आकाश
भरो सृष्टि को ध्वनि से
प्रज्वलित है अग्नि।

बाँध दी गाँठ
और, मनाइन करती है निवेदन—
हे उमा, बन जाओ पुरैन की जड़
बन जाओ उमा, बाँस की ओध
उमा हो जाती है वसुमती
वसुमती पर चढ़ा है सुहाग।

रोमी मातंगी

दादी माँ की गोद में लदी रहने वाली
रोमी मातंगी पाँव-पैदल चलती
गेहूँ की मेड़ पर गिरती-पड़ती
पूछती है—यह क्या है बाबा?

पेड़ से उतरती नन्हीं गिलहरी
खेत के बीच आते मनुष्य को देख
मुलुर-मुलुर ताकती है!
रोमी मातंगी के कदम पड़ते हैं ढीले
पूछती है—क्या यह बन्दर है?

—यह गिलहरी है
—गि-ल-ह-री?
गिलहरी भरती है कूद

किसी दूसरे पेड़ पर चढ़ती वह
पल भर में होती है छू-मन्तर।

खेतर में चल रहा है दमकल
बहता है पानी नालियों में।
पानी का प्रवाह देख
उत्फुल्ल होती है रोमी मातंगी।
पानी में बहने को डालती है सूखे पत्ते
फिर अपनी चप्पल बहाती है।
परखना चाहती है
कि क्या-क्या बह सकता है प्रवाह में!

—अब घर चलोगी, रोमी?
—नहीं, बाबा नहीं—कहती है रोमी मातंगी।

क्यों सोचें हम अष्टोकाल

नारियल के पत्ते डोलते हैं हवा में
पहले जरा बायीं ओर
फिर घूम जाते हैं दायें।

केले के कोमल पत्ते
बारिश की बूँदों से नीचे दबते हैं जरा,
ठेलते हैं बूँदों को नीचे धरती की तरफ झुककर
और फिर, ऊपर तन जाते हैं।

पपीते के पत्ते देखो तो क्षीण लगते हैं
कुपोषित बच्चों-सा डोलते हैं सूखने पर
डाल से गिरें तो आवाज तक नहीं होती
मगर गिरें तो नीचे ही गिरते हैं।

हवा बहती है, बस बहती है ज्यादातर
कभी-कभार बुँदियाता है बादल

कम ही ऐसा होता है कि उठती है आँधी
लेकिन हम हैं
कि आँधी की ही बात सोचते हैं अष्टोकाल।

नहीं।
क्यों सोचें हम अष्टोकाल
आँधी की ही बात?

आपको किस बात की चिन्ता

जंगल से विलुप्त हुए बाघ
घटते गये जंगल बेतरह
गाँव के वन-क्षेत्रों से गायब हो गये
खटाँस, खढ़िया और नढ़िया।
लेकिन भाई,
आप तो मुटाते जा रहे हैं दिनोंदिन
आपको किस बात की चिन्ता?

मेघ में हो गया छेद
सूर्य की किरणें जलाती हैं
कोमल बच्चों की त्वचा,
दक्षिण ध्रुव पर पिघल रहे हैं
चट्टान के चट्टान बर्फ
डूब रही हैं सागर-किनारे की बस्तियाँ
लेकिन भाई,
आप तो मुटाते जा रहे हैं दिनोंदिन
जैसे आपका ही ठहरा समूचा संसार,
आप फैला सकें आराम से अपनी टाँगें
इसीलिए निर्मित हुए जंगल और पहाड़
आपको किस बात की चिन्ता?

कल भी उगेगा ही सूर्य भाई,
मिल ही जाएगा आपको पानी
करने वास्ते कुल्ला,

आपको किस बात की चिन्ता?

विश्वास

पिछले साल भी रँगी गयी थीं मतपेटियाँ
ग्रीज डालकर हल्के किये गये थे ताले
सरकारी अधिकारियों को मिले थे हुक्मनामे
और मार्ग-व्यय।

जिन्हें बन्दूक थी, उन्होंने बन्दूकें चमकायीं
टोपीवालों ने धुलवायी टोपियाँ
जीपवालों ने जीप की बॉडी रंगवायी
देश के अर्द्ध सैनिक जवानों ने
देहाती सड़कों पर किये मार्चपास्ट।

जनता ने हराया बेईमानों को चुन-चुन
जीत हासिल करने वाले पहुँचे संसद्-परिषद्
पहुँचे बचाने अपना देश
बचाने जनता का राष्ट्रीय कोष
बचाने अपना संविधान
और अपने देश की सीमा।

साल-भर बीता नहीं अभी
कि पकड़े गये चोरी करते
बड़े-बड़े कोतवाल

जनता को लेकिन,
पूरा है विश्वास
अगली बार आयेंगे स्वच्छ लोग,
माँगा गया जनादेश फिर से
फिर से पड़ने लगे मतपेटिका के तालों में ग्रीज
कर्मचारियों के नाम जारी हुए हुक्मनामे
धुलवायी जाने लगीं टोपियाँ फिर से।

देखने के लिए चीजें

देखने के लिए कितनी सारी चीजें हैं
लेकिन, मैंने
स्कूल की हाजिरी-बही में दर्ज कर अपनी उपस्थिति
मूँद ली हैं अपनी आँखें
और, चबा रहा हूँ मुँह में दबी सुपारी।

सच में कितनी चीजें हैं देखने को!
छात्रावास नहीं रहा अब स्कूल का
दीवारों पर पैदा हुए पीपल के जंगल
चौखट और किवाड़
उखाड़ ले गये चोर-चुहार

कितनी चीजें हैं देखने योग्य—
लड़के काले रंग के कुरते पहनकर आने लगे हैं क्यों
लड़कियाँ क्यों पहनने लगीं इत्ते लाल-लाल फ्रॉक?
क्यों कोई क्लासरूम छोड़कर भागता है
क्यों क्लासरूम खाली पाकर
होता है मुझे केवल सन्तोष!
खेल के मैदान में चरता है क्यों
ताँगेवाले का घवैल घोड़ा!
लेबोरेटरी की अलमारी का पल्ला टूटा है क्यों!
क्यों कैशबुक के साथ
हर अफसर करता है दुराचार!
क्यों एक समूची शताब्दी
भूकम्प से ढहे मलबे की तरह
पसरा है तमाम रास्तों पर!
देखने योग्य कितनी सारी चीजें हैं!

दीवार पर जनमे पीपलों का जंगल है
क्या मेरे आँखें नहीं हैं?
नहीं हैं क्या हमारे हाथ, भाई?
आज भी सूर्य उगता है

क्या हमीं नहीं बिसर गये उगना और डूबना?
दुनिया की सारी किताबें डुबा डालने का जुर्म
क्या हमारे ही नाम नहीं लिखा जाएगा?
जाने कितने पुस्तकालय जला डाले
बख्तियार खिलजी की फौज ने,
क्या हमारे नाम शामिल नहीं किये जाएँगे
उस फौज के साथ?

देखने के लिए हैं सचमुच कितनी सारी चीजें
पर, क्या हमारे आँखें नहीं हैं भाई?

क्षण में टूटता है आकार

क्षण में टूटता है आकार
ठंडी पड़ जाती है रक्त की उष्णता,
तरल चमक से भरी
दृष्टि की चल-विचलता
पलक झपकते हो जाती है जड़

फेफड़े की ऊष्मा
सात रंगों के सिंगार में
होती है प्रस्फुटित...

आग को रखना बस, जिला के
डालते रहना उसमें बूँद-बूँद घी
होने मत देना उसे उद्दाम, न दावानल
कि क्षण-भर में बस राख की ढेर ही बच जाए।

उतनी ज्वाला भी नहीं
मगर हाँ,
दीप में घटता है तेल
घटती है उसकी बाती
घटता है शिखा का कम्प,
इस सबका अपना एक अनुभव है

अलग ही है एक लालित्य...

क्षण-क्षण करके जगता है रूप
लेकिन, क्षण में डूब जाता है आकार....

लौट-लौटकर आऊँगा फिर फिर

धुन्ध को पीया मैंने श्वास में
और अपने रक्त में मिला लिया,
छोड़ा जो मैंने श्वास
वह जा बसा वनस्पतियों के उदर में,
अड़हुल की लाल-लाल पंखुड़ियों में व्यक्त हो
खिलखिलाकर हँस पड़ा,
क्षण-क्षण बदला मैं
पाकड़ की टुस्सी में।

दूब की मुंडी परिवर्तित होती है भेड़ में
और मिमियाती है,
बहती है कभी काली गाय के दूध में।

देहान्त के बाद कोई खड़ा नहीं मिलता धरती पर
नारंगी के रस में
और बादलों के झुंड में
झहर कर बिलाती है उसके शोणित की धार।

हजार फूलों से अदला-बदली करते अन्ततः हुआ हूँ शब्द
मेरे हजार शब्द आये हैं जाने कितने दर्जन भाषाओं से
बीसियों-पचासों देशों से
श्रमजीवियों के स्वेद से,
मैं जो हूँ वह
अनेक शताब्दियों का थोड़ा-थोड़ा अंश हूँ,
अनेक भू-भागों से तराश-तराश तिल-तिल

मैंने भरा है अपने प्राणों से सामर्थ्य।

प्रत्येक क्षण होता हूँ जाने कितनी भाषाओं में विलीन
कितने-कितने वृक्षों के पत्तों में, नदियों के जल में
होता हूँ उत्सर्जित
और फिर पुनःसृर्जित।
घूमता हूँ परिक्रमा में पृथ्वी के संग
एक पल के लिए भी कभी
होता नहीं बाहर उसकी चौहद्दी से।

पृथ्वी की गोद में स्थित हुआ मैं
खिलता रहूँगा कभी गेंदा के फूल में
कभी बरहर के फल में,
बड़-पीपल की टुस्सी में
लौट-लौटकर आऊँगा फिर-फिर
दर्जन-दर्जन भाषाओं के
छोटे-छोटे शब्दों में।

जीवकान्त से साक्षात्कार

समाज का साझा मन और कविता का आत्म-संघर्ष

(जीवकान्त से मैथिली कवि नारायण जी की बातचीत)

मैथिली साहित्य में आपका कब और कैसे प्रवेश हुआ?

जीवकान्त–मैं नौकरी में आया, तब मेरी उम्र इक्कीस वर्ष की थी। मैं सोचता था कि नौकरी से निकल सकूँगा और आगे की पढ़ाई कर सकूँगा। मगर वह हो नहीं सका। हुआ यह कि मैंने प्राइवेट से एक परीक्षा दी और फिर अच्छे नम्बरों से पास हो गया। अनुभव किया कि नौकरी छोड़कर निकलना सम्भव नहीं है, किन्तु नौकरी करते कुछ कर पाने की सम्भावना बनी हुई है। स्कूल के दिनों में मैं कविताएँ लिखता था, ज्यादा हिन्दी में काम करता था, थोड़ा काम मैथिली में करता था। फिर मैं मैथिली में काम करने के लिए उत्सुक हुआ। मातृभाषा को मान देने की और उसके परिरक्षण की भावना मन में थी। मैंने कविता लिखी। इस काम को महीनों तक निर्णय करने में लगाकर किया। कविता-पत्रिका में छापकर लोगों ने मनोबल को बढ़ाया और मेरा काम करना शुरू हो गया। मैं इस काम को अभी तक करता हुआ असन्तुष्ट और श्रान्त नहीं हुआ।

आप कथा-कविता-उपन्यास में अत्यन्त सक्रिय रहे हैं। वह कौन-सी अकुलाहट थी, जिसे साहित्य के द्वारा कहने के लिए आपको बाध्य होना पड़ा?

जीवकान्त–मैं स्कूल की कक्षा में पाठ सुनता हुआ उकताता था। घर पर पाठ का स्वाध्याय करता हुआ आधा घंटे में ही ऊब जाता था। इसका कारण यह था कि मैं एक बार में सुनकर और अथवा एक बार में पढ़कर समझ लेता था। कोई विचार उत्पन्न हुआ उसे शब्दों में व्यक्त करने का मन हुआ तो कविता लिखने बैठ गया और लिख पाने पर खुश हुआ। कहानी और उपन्यास में कहने के लिए योजना बनानी पड़ती है। रचना अगर महीने-भर में पूरी हुई या साल-भर में पूरी हुई, यह थकान और ऊब पैदा करने की बात हो गयी। कविताएँ हैं कि लिख लो, पचीस से पचास शब्दों में अपने विचार को कह लो और छुट्टी पा लो। अगर परिस्थिति अनूकूल रही, तो चौबीस घंटों में अपने विचार को प्रतिफलित करके फिर छूट आये।

आपके भीतर वह कौन-सा आवेग था, जिसने कालान्तर में साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा कविता की धारा को तीव्रतर किया?

जीवकान्त–मेरे पास अनुभव बहुत थे, निरीक्षण बहुत थे, मेरे मन में निष्कर्ष आते थे, वे विविधता और बहुलता में थे। इन सारे अनुभवों को रोक पाना मुश्किल था। उपन्यासों में कहता तो साल में एक बात कहता। कहानियों में कहता तो महीने-भर में एक बात कहता, कविताओं में ऐसा हुआ कि मैं महीने में पाँच-सात विचारों को अभिव्यक्त कर सका। छियासठ ईस्वी (सम्भवतः) के ग्रीष्मावकाश में चालीस दिनों में मैंने बीस-पचीस कहानियाँ लिखीं। पेड़ों में ऐसा होता है। बहुत फल देने वाले पेड़ों में छोटे-छोटे फल लगते हैं। ऐसा कह सकते हैं, बहुत सारी बातें कहने में यह तकलीफ अपनी राह बना सकी। कविता-लेखन इसके लिए स्वाभाविक लगा और उसकी ओर मैं तीव्रतर वेग से बढ़ा।

आप कविता को कैसे परिभाषित करते हैं?

जीवकान्त–कविता किसी समाज की आशा-आकांक्षा की अभिव्यक्ति है। समाज व्यक्तियों के अन्दर एक सामूहिक चेतना विकसित करता है। एक लक्ष्य, एक प्रकार की जीवन-शैली उत्पन्न करता है। उसमें उसके इतिहास और परम्परा का बड़ा हाथ होता है। भिन्न-भिन्न समाजों का यह साझा मन आपस में थोड़ा मिलता-जुलता होता है। थोड़ा अलग-अलग भी होता है। उसकी जीवन और समाज के बारे में एक निश्चित-सी धारणा होती है। समय के साथ समाज और व्यक्ति उतार-चढ़ाव में अपनी धारणा के अनुरूप जूझते हैं, धारणा को बचाने की कोशिश करते हैं। यह जूझना, यह बचाव कविता बनकर आता है।

मनुष्य का मन भाषा में नहीं सोचता है, चित्रों में सोचता है, गतियों में सोचता है। रुचि-अरुचि में सोचता है। उसके मन को भाषा में व्यक्त करना हमेशा अधूरा होता है। इस तरह अनेक अधूरी अभिव्यक्तियों में कविता प्रायः मन के सत्य की निकटतम अभिव्यक्ति होती है।

कविता आरम्भ से भाषा में चित्रात्मक अभिव्यक्ति देती है। वह शैली आज भी कायम है। वह प्रायः कल भी इस तरह की होगी।

आज की आपकी कविताओं में देशज सौन्दर्य का बाहुल्य मिलता है। क्या इसका अर्थ मैं यह समझूँ कि देशज संस्कृति आज पहले से अधिक संकट के दौर से गुजर रही है, जिसे कविताओं में बचाने का प्रयत्न किया जा रहा है। यह संकट कविता के लिए कैसा है?

जीवकान्त–मेरी आज की कविताओं में देशज सौन्दर्य आता है। गाँव का देवस्थान आता है, सन्ध्या की आरती आती है। वह संकट में है। गाँव नहीं रहेगा। डिहबार का पिंडा नहीं बचेगा। इसी तरह गाँव की गरीब और निरक्षर वधू है, जो अपने बच्चे को जन्म देने के लिए पुरुष के पीछे सब कुछ छोड़कर भागती है। अब

यह नहीं चलेगा। विवाह टूट रहा है, परिवार टूट रहे हैं, बच्चे पैदा करने और उन्हें पालने की लालसा पर खतरे की आशंका है। हजारों साल से समाज ने इस लालसा को सँजोकर रखा था। इधर इसे बचाना है, किसी-न-किसी रूप में इसे बचाकर रखना है, क्योंकि निरन्तरता को खंडित होने से रोकना है। अपने स्वप्नों को बचाने के लिए कविता तैयार हो गयी है। वह हठ करती है, वे थोड़ी-सी बातें हैं, जरूरी बातें हैं, उनकी बार-बार ''रट'' लगाती है।

कृपया आप उन रचनाकारों के बारे में विस्तार से बतायें, जिन्होंने अपने जीवन और साहित्य के द्वारा आपके कवि-व्यक्तित्व को विराटता दी।

जीवकान्त–द्वितीय विश्वयुद्ध को लेकर और उसके प्रभाव को लेकर पश्चिम में कुछ लेखकों ने प्रभावशाली ढंग से लिखा है। उनके निरीक्षण की शक्ति अद्‌भुत थी। मानव-मन की कुटिलता का उन्होंने विशद वर्णन किया है। वह सभी पढ़ने के लिए अनियोजित ढंग से मिला। पढ़ने में अच्छा लगा सारा पढ़ा हुआ किसी-न-किसी रूप में प्रभावित करता है।

इसी तरह रूसी क्रान्ति के पूर्व का रूसी साहित्य कहीं पढ़ने को मिला। मनुष्य का मन वहाँ भी अद्‌भुत रंगों में दिखाई दिया। उसने भी स्तब्ध किया, रोमांचित किया। कहीं-न-कहीं भारतीय मन तक एक निश्शब्द यात्रा करने की प्रेरणा उसने दी।

उनके घर के संकट को देख और समझ पाने का अवसर मिला। उसके फलस्वरूप हम अपने घर, अपने समाज के संकटों की ओर मुड़ गये उसमें कुछ ऐसा मिला, जिसे समाज के सामने लाने की इच्छा जगी।

लेखकों के नाम कहना हमेशा सही नहीं होता। आप बहुत चीजें भूलते हैं, परन्तु उसका प्रभाव कभी थोड़ा कभी अधिक बचा रहता है। उस प्रभाव को आप कभी अलग से पहचान पाते हैं, कभी उसे अलग भी नहीं कर पाते।

कवि का सामाजिक दायित्व क्या है? आप कवि-कथाकार-उपन्यासकार और आलोचक रहे हैं, क्या आपने ऐसा अनुभव किया कि कोई रचनाकार अन्य विधाओं की अपेक्षा कविता के द्वारा सामाजिक दायित्व का समुचित निर्वाह कर सकता है?

जीवकान्त–कवि का कवि-कर्म ही सामाजिक सोच को व्यक्त करना है। व्यक्तिगत स्वप्न कभी भी पढ़ने-सुनने योग्य नहीं होगा। प्रत्येक संस्कृति अपने समाज का एक सामूहिक मन गढ़ती है। वह मन थोड़ा बदलता सँवरता जरूर होता है, परन्तु वह मूलतः शताब्दियों की रगड़ और घिसाव के बाद भी जैसा-का-तैसा बना रहता है। कवि व्यक्तिगत जीवन जीता है, परन्तु सामाजिक स्वप्न को अभिव्यक्त करता है।

कोई भी कवि-कर्म जो समाज में आदर के साथ ग्रहण होता है, वह सामाजिक दायित्व के निकट होता है। इसी से वह सोये समाज को जगा सकता है, असंगठित समाज को संगठित कर सकता है।

लेखन विधा अभिव्यक्ति की सारी विधाओं से अधिक सूक्ष्म है, अधिक स्थायी है और कदाचित सबसे अधिक मन को झकझोरने वाली है। लेखन की अन्य विधाओं की अपेक्षा कविता हमेशा काल-निरपेक्ष होती है और अनेक पीढ़ियों को एक समान प्रिय होती है और उनके स्वप्नों को एक दिशा प्रदान करती है।

साहित्य में आपके प्रवेश के समय मैथिली कविता की क्या समग्र परम्परा थी, और आपने किस रूप में परम्परा से रस ग्रहण किया?

जीवकान्त–मैंने चौंसठ और पैंसठ ईस्वी के सन्धिकाल में अपनी पहली कविता लिखकर अपनी अकुलाहट को रेखांकित करने का रास्ता चुना था। नेहरू-युग समापत हो चुका था। लोग निराश थे। जो हो रहा था, वह जनविरोधी था। मैथिल परिस्थितियाँ बहुत सफाई के साथ कविता और कथा में आ रही थीं। मनोरंजन के लिए लिखी जाने वाली छन्दोबद्ध कविता में भी ये विचार फूहड़ ढंग से ध्वनित होते थे। नयी कविता बौद्धिक और विचारात्मक थी और अपने समय की सारी अकुलाहट को ढो सकने में समर्थ थी और इसे आराम से निभा रही थी। नये कवियों का परम्परा से विद्रोह अच्छा लगता था। उसे मैंने लिया। नयी पीढ़ी नये परिवेश के लिए उत्सुक थी। कविता में इस पीढ़ी की मानसिकता को व्यक्त करना अच्छा लगा। पूर्ववर्ती और समकालीन लोगों के यथास्थिति के इस अस्वीकार ने मेरे लेखन को प्रभावित किया।

यात्री और राजकमल के उस काल-वैशिष्ट्य के बारे में बतायें, जिसने आपके कवि-व्यक्तित्व के निर्माण में किसी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया हो?

जीवकान्त–यात्री और राजकमल के पास अपने शब्द थे। वे देशज उठाने का प्रयास करते थे और अपने अनुभव में मैथिल सोच की चमक पैदा करते थे। वे पढ़त थे, बहुत पढ़ते थे। परन्तु अपनी रचनाओं में वे स्खलित नहीं होते थे। अपनी पसन्द और अपनी पहचान उनके एक-एक वाक्य में उपस्थित होती थी। यह कुछ ऐसा था कि मन्त्रमुग्ध करता था। उनके पास पहुँचना कठिन था। मगर उनके पास पहुँचकर इस मैथिल रस को चखना जरूरी था और अच्छा लगता था। फिर मैंने अपने शब्द ढूँढ़ने शुरू कर दिये। मेरी यात्रा भी दुर्गम प्रदेशों में शुरू हो गयी। समय तो लगा, मगर सफलता मिली। लोग निजी अभिव्यक्ति के प्रशंसक बहुत आरम्भ में ही बन गये। इस प्रसंग में स्व. सुधांशु शेखर चौधरी की टिप्पणी याद आती है। मेरा पहला कविता-संग्रह (नाचू हे पृथ्वी) और मेरा पहला कहानी-संग्रह (एकसरि ठाढ़ कदम तर रे) सत्तर-इकहत्तर के आस-पास छपे थे। उनका रिव्यू उन्होंने खुद लिखकर 'मिथिला-मिहिर' में छापा था। मेरी भाषा के बारे में उनके विचार बहुत ऊँचे थे।

समकालीन मैथिली कविता अपनी पूर्ववर्त्ती कविताओं में किस अर्थ में भिन्न है? उसकी स्थिति और दिशा क्या है?

जीवकान्त—समकालीन मैथिली कविता पुराने जड़ चिन्तन से आगे आने की

कोशिश है। परम्परा को तोड़ने की बात करती है। फिर उस परम्परा को नये सिरे से रचने की बात करती है। इस तरह परम्परा की मूल दिशा नहीं बदलेगी, सिर्फ उसका बाहरी परिधान बदलेगा।

समकालीन कविता प्रत्येक नये धक्के को अभिव्यक्त करने में सक्षम है। उसकी आशा-आकांक्षा सारी उथल-पुथल के बीच अक्षत और अव्याहत है।

सामूहिक मन अपराजेय होता है। वह निराशा का विलाप करने की जगह नये सिरे से अपनी शक्तियों को इकट्ठा करने का गायन करता है। वह अपनी ऊर्जाओं को समेटता है और फिर अपनी पूरी चमक के साथ दिखाई देता है।

समकालीन मैथिली कविता असहमति का घोष बनती थी। संघर्ष का आह्वान थी। आज वह विजय की यात्रा है। विश्वास का उत्सव है।

आप अपनी पूर्व की कविताओं में संघर्ष की बात करते थे, जिनमें असहमति का स्वर प्रधान था। आज की कविताएँ जीवनासक्ति की कविताएँ हैं। यह दृष्टि-परिवर्तन सामूहिक जीवन का है अथवा परिवर्तित जीवन के संग आपका?

जीवकान्त–सही है कि अपनी पिछली कविताओं में मैंने संघर्ष की बात की थी। पुराना घर तोड़ने के लिए धक्के की जरूरत होती है। फिर नया रचते हैं। नया घर पुराने घर की अपेक्षा अलग दिखाई देता है, परन्तु उसके उपयोग में बहुत अन्तर नहीं होता है।

समाज का साझा मन असुरक्षा में चीखने लगता है, फिर वह अपनी सुरक्षा के लिए एक स्थिति विकसित कर लेता है। कविताएँ इन स्थितियों को व्यक्त करती हैं। मैंने भी किया। जीवनासक्ति वह मूल भाव है जिसके चारों ओर हमारी रुचि-अरुचि उत्पन्न होती है। परन्तु इसके साथ संघर्ष खत्म नहीं होता है, जरा-सा किनारे पड़ जाता है। इसमें नया कुछ देखेंगे जो कहीं अगल-बगल में, इन चीजों के निकट ही खड़ा है। वह चीज़ जिसे आप जीवनासक्ति कहते हैं, कहीं बाहर से नहीं आयी है और न यह नया-नया उत्पन्न हुई है। यह थी और हम उधर नहीं देखते थे। यह है, क्योंकि हम उसे देखते हैं और चुनते हैं।

आरम्भ की आपकी कविताओं में विद्रोह है, आक्रोश है। इधर की आपकी कविताओं में जीवन-सौन्दर्य और आस्था है।

जीवकान्त–जीवन विविधतापूर्ण है। एक कैलिडोस्कोप (बहुरूपदर्शी) होता है। उसे जितनी बार घुमाओ, नया आकार और नया सौन्दर्य दिखाई देता है। मैं चौंतीस वर्षों से सक्रिय लेखन कर रहा हूँ। लगातार विचार करने के लिए जीवन के कैलिडोस्कोप को घुमा-घुमाकर देखना पड़ता है। इससे ऊब खत्म होती है।

जीवन का निरीक्षण मैं कर रहा हूँ। यह मुझे अच्छा लगता है। जीवन में बहुत सारा सौन्दर्य और उल्लास बचा हुआ है। उसे ढूँढ़ना बहुत अच्छा लगता है। यही मेरी प्राणशक्ति का स्रोत है।

आरम्भ की आपकी कविताएँ व्यक्ति-भोग की कविताएँ हैं, उसमें दुनिया बदलने की छटपटाहट दिखती है। आज की आपकी कविताएँ अवलोकन-प्रधान कविताएँ हैं, यथास्थिति में जीवन तलाशती है। इसका क्या कारण?

जीवकान्त–मैं समझता हूँ कि मानव-जीवन को कविता नहीं बदल सकती है, जीवन खुद बदलता है। अनेक प्रभावशाली चीजों के साथ कविता भी जीवन को प्रभावित करती है, बदलती भी है। बदलाव छिपा होता है, बहुत साफ दिखाई नहीं देता। बहुत बाद में जाकर उसे महसूस किया जाता है। चलो, जीवन से ऊबने की जरूरत नहीं है। अपनी आरम्भिक और आज की कविताओं के बारे में ऐसा मैं सोचता हूँ।

कभी आप राजनीतिक-चेतना-सम्पन्न कविता लिखते थे। आज की आपकी कविताओं में राजनीतिक स्वर का अभाव देखने को मिलता है। आखिर क्यों?

जीवकान्त–भारत की राजनीतिक चेतना एक गहरे दलदल में डूब रही है। लोग दलदल से निकलने की कोशिश करते हैं, तो और डूबते चले जाते हैं। राजनीति अपने को बचा नहीं सकती, तो जनता को क्या बचायेगी? देश का सारा राजनीतिक अनुभव एक समान निराश करता है। विश्व-स्तर पर भी राजनीति आशान्वित नहीं करती। इस राजनीति को आप न तो ओढ़ सकते हैं, और न बिछा सकते हैं। इसे सर पर उठाये चलिये। बहुत लोग इसे उठाये हुए हैं और मगन हैं। मैंने इस फालतू और व्यर्थ आशा ('मोघ-आशा' ऐसा गीता में कहा है।) के गट्ठर को उतार फेंका है। मैं जीवन को ओढ़ता-बिछाता हूँ। समाज की विभिन्न भंगिमाओं में उसे पकड़ता हूँ। मुट्ठी में जितना आता है, उसे ले आता हूँ। इस बार वह बहुत होता है। मुट्ठी में जितना आता है, उससे ज्यादा पकड़ने से रह जाता है।

आज की आपकी कविताएँ मिथिला की सांस्कृतिक स्थिति और अनुराग की कविताएँ हैं। कई आलोचक गद्य की अपेक्षा कविता में अभिव्यक्ति देना इसे कठिन मानते हैं। एक कवि के रूप में मैं जानना चाहता हूँ कि कविता में सांस्कृतिक चेतना को अभिव्यक्ति देना उचित और सहज नहीं है?

जीवकान्त–मेरी कवितओं में मिथिला की संस्कृति और अनुराग आते हैं, यह मेरा सौभाग्य है। विद्यापति और यात्री की कविताओं में जितना अनुराग आया है, उतने मेरे हिस्से में नहीं आया। मुझे इसका दुःख नहीं है, सिर्फ अपनी क्षमता की सीमा दिखाई देती है। विद्यापति और यात्री को इस काम के लिए कविता पर्याप्त लगी। मुझे अपनी कविता पर्याप्त लगती है।

सृजनात्मक लेखन अपने समय से आगे होता है। समीक्षा अपने समय से पीछे चलती है। समीक्षा जब समकालीन कविता पर टिप्पणी करने का दम्भ करती है तो वह बहुत फूहड़ लगती है। कभी आलोचक को घोड़े को परेशान करने वाली उसके कान पर बैठी मक्खी से एन्तोन चेखोव ने उपमित किया था, वह भी याद आता है।

आपकी कविताओं में प्रकृति अपने सम्पूर्ण उद्दीपन के साथ आती है, और मनुष्य के रूप में उजागर हो जाती है। इस विशेषता का कारण?

जीवकान्त–प्रकृति और मनुष्य एक-दूसरे से जुड़े हैं। पेड़ों, पशुओं आदमियों के जीवन का संघर्ष एक जैसा है। सुरक्षा की भावना भी एक जैसी मुखर है। पेड़ों और चिड़ियों के बारे में बात करना, मनुष्यों के बारे में बात करना। मेरी कविताओं को पढ़ते हुए लोगों ने ऐसा अनुभव किया है। ऐसी सफलता ने मुझे सन्तोष दिया है।

आप उन महत्त्व को बतायें, जो आपको मैथिली कविता-लेखन में मिलता है?

जीवकान्त–मैथिली कविता पर बाहरी प्रभाव था। शिल्प तो लोगों ने बाहर से ही लिया था। कथ्य को चुनने का ढंग भी जल्दी कहीं से लाया गया था। पारम्परिक कविता संस्कृत कवियों से प्रेरित होती थी। इन सारे प्रभावों के बीच एक अलग कथ्य और उस नये कथ्य को देशज चित्रों के सहारे छूकर बढ़ना और आगे की ओर बढ़ते जाना एक रोमांचक अनुभव है। यह अनुभव मुझे कविताएँ लिखते जाने में मिला है और जिसने मुझे 'रचने का सुख' प्रदान किया है।

आज आपके समकालीन कवि बासी दिख रहे हैं, और आज जबकि ययाति कम्प्लेक्स की बात हो रही है कि वरिष्ठ रचनाकार नयी पीढ़ी से ऊर्जा ग्रहण कर अपनी रचनाओं में ताजगी ला सकते हैं। आप अपनी कविताओं के लिए और अपने समकालीनों के जिए कहाँ तक इससे सहमत हैं?

जीवकान्त–ययाति कम्पलेक्स होता है। लोग अपने एक कथन को लेकर बैठे हुए हैं ओर वे बुढ़ा रहे हैं। मैं मानव-अस्तित्व और पूरे ग्रह (प्लैनेट) के अस्तित्व को जोड़कर देखता हूँ तो लगता है कि पुराने पेड़ में नये पत्ते निकलकर खिलखिला रहे हैं। इसमें कौन कितना दुःखी है और कितना दोषी है, उसे आप समझ सकते हैं। हम अपनी निष्क्रियता और दोष को दूसरों के माथे मढ़कर कौन-सा न्याय कर रहे हैं?

मैथिली के युवा कवि तथा उनकी काव्य-प्रवृत्तियों के बारे में बतायें जो समकालीन मैथिली कविता को आधुनिक भारतीय भाषा की कविताओं के समक्ष समान गति और ऊष्मा दे रहे हैं?

जीवकान्त–कुछ युवा कवि मैथिली कविता में नयी भाषा लेकर आ रहे हैं। वे नये चित्र ढूँढ़कर लाते हैं। वे चित्र पीछे छूटते जाते परिवार की सेवा और त्याग के चित्र हैं। खेती के और पुराने खेतिहर के राग और समर्पण के चित्र हैं और जो हमारे अनुभवों को व्यक्त करने में सफल हैं और नयेपन के कारण हमारा ध्यान सहसा खींचने में सक्षम हैं। वे कवि यहाँ की सामाजिक अस्मिता को पहचान देने का काम कर रहे हैं। मैं इनके काम से उल्लसित और सक्रिय होता हूँ।

आज मैथिली में जबकि प्रकाशन का घोर संकट है, आप युवा पीढ़ी के लिए क्या सन्देश देना चाहेंगे?

जीवकान्त–हमारे युवा मैथिली कवि लिखेंगे। अक्षरों में अंकित साहित्य पर एक संकट दिखाई देता है। हम सभी भाषाओं का साझा संकट है। परन्तु कविताएँ रहेंगी। जब शब्द सुने भर जाते थे, लिखे नहीं जाते थे, तब भी कविताएँ रची गयीं। आज भी प्रकाशन का काम असुविधाजनक है। कविताएँ तथापि लिखी जा रही हैं। मनुष्य का मन रहेगा, तो कविताएँ रची जाएँगी। मनुष्य सपने देखेगा, तो कविताएँ प्रकट होंगी। मनुष्य अपने को बचाने के लिए सोच-विचार करेगा, तो कविता अपना आकार धारण करेगी।

मैथिली में कविता की परम्परा है। वह अपनी दृष्टि के कारण, अपने अनुभवों के कारण, भारतीय कविता के साथ होते हुए भी एक निरालेपन के साथ प्रकट होती है। उसको रहना है और आगे भी रहना है।

समकालीन मैथिली कविता की आधुनिक भारतीय भाषा की कविता की अपेक्षा क्या सम्भावना है?

जीवकान्त–मिथिला में जीवन के बारे में एक विशिष्ट दृष्टिकोण दिखाई देता है। वह उसकी सौन्दर्यप्रियता में है, उसकी फकीरी में है। मैथिली कविता बहुत पारदर्शी है। स्वच्छ है। और भाषाओं में कविताएँ बाहर से रंग उठाकर ले जाती हैं। आकर्षक लगती है। फिर दूषित और मैली हो जाती है।

नयी पीढ़ी के लिए कोई और भी संदेश?

जीवकान्त–नयी पीढ़ी को पढ़ना होगा। बहुत पढ़ना होगा। पढ़ना एक यात्रा है। अपनी दृष्टि को पुष्ट करने के लिए सारी भाषाओं से अनुभव का पराग इकट्ठा करना होगा। मधुमक्खी हजार फूलों से रस लेती है और मधु बनाती है। मधु आपको अच्छा लगता है, और मधुमक्खी की याद आती है। किसी एक फूल की याद नहीं आती है। नये लोगों को परिश्रम करना होगा। अपनी दृष्टि प्राप्त करनी होगी। जैसे बुद्ध ने बहुत तपस्या के बाद एक दृष्टि विकसित की थी। हर लेखक अपना श्रम और स्वेद व्यय करता है और उसका प्रतिफल पाता है। इसमें कोई शार्टकट नहीं है। वहाँ तक पहुँचने के लिए साल-भर का रास्ता ठीक है, छह महीने का रास्ता प्रशंसनीय नहीं है।

जीवकान्त की कहानियाँ

तेल

बात कुछ पुरानी है। बँगलादेश का युद्ध समाप्त हो चुका था। देश में आत्मविश्वास भरा हुआ था, पर भ्रष्टाचार बढ़ रहा था। देश में आपातकाल की घोषणा अभी नहीं हुई थी।

स्कूल में एक पाली पढ़ा आया था, पसीने से लथपथ और थका हुआ था। दशहरे के बाद का समय था। जज अधिकांश समय में हवा बहती प्रतीत नहीं होती। धूप होने लगती है। गर्मी के समय गर्मी अप्रिय लगती है। क्लास लेकर आया था। गर्मी से मन व्याकुल था। स्कूल में बिजली, या फिर बिजली के पंखे की कोई बात नहीं थी।

बनियान पहने हुए स्कूल का चपरासी फकीर हेडमास्टर के ऑफिस की ओर से आया, और सलाम किया। मैंने कहा—तम्बाकू खिलाओ!...वह तम्बाकू रगड़ने लगा। फिर बोला—आपको हेडमास्टर बुला रहे हैं।

एक बीड़ा तम्बाकू होंठ में दबाकर हेडमास्टर के ऑफिस की छोटी-सी कोठरी की ओर मैं चल पड़ा। हेडमास्टर साहब ने बैठने का आग्रह किया। उस कमरे में एक व्यक्ति पहले से बैठे थे। मैंने उनकी ओर नहीं देखा था। लेकिन उन्होंने बड़े अनुराग से मुझे नमस्कार करते हुए हाथ जोड़ा। बरबस उनकी तरफ नजर चली गयी। वे मेरे लिए अनजान व्यक्ति थे। साधारण से व्यक्ति लग रहे थे। कोई खास विशेषता उनमें दिख नहीं रही थी।

हेडमास्टर साहब ने कहा—इनका बच्चा आपके क्लास में पढ़ता है। ये उस पर ध्यान देने का आग्रह कर रहे हैं।

—क्या नाम है बच्चे का?

—गगन—उन्होंने कहा।

हेडमास्टर ने कॉल बेल बजाया। बोले—फकीर! सातवीं कक्षा से गगन को बुला लाओ।

फकीर ने पूछा—क्या नाम बोले? गगन?

हाँ, गगन।

मैंने प्रतिवाद करते हुए कहा—निरर्थक क्यों बुला रहे हैं गगन को? मैं उसे जानता हूँ। बहुत भोला लड़का है। कम बोलता है। होशियार है। पर मेहनत कुछ कम करता है।

गगन को व्यर्थ ही बुलाया गया। सार्थकता इतनी भर हुई कि अभिभावक हेडमास्टर के प्रति श्रद्धालु हुए। मैं तो खुद ही सभी छात्रों पर ध्यान देता था। अधिक यह हुआ कि अब तनिक वचनबद्ध हुआ।

गगन को वहाँ से फुरसत मिली। वह प्रसन्नचित्त वापस हुआ और अपनी कक्षा में घुस गया। मैं उठकर स्टाफ रूम की ओर चलने लगा।

हेडमास्टर साहब बोले—बैठिये! रामधारी जी के लिए चाय मँगवाता हूँ।

प्रतिवाद करते हुए वे बोले—ना-ना, मैं चाय नहीं पीता हूँ!

हेडमास्टर साहब अनुराग दिखाते हुए बोले—आज पीजिये!—उन्होंने फकीर को आदेश दिया कि बढ़िया चाय बनवाकर ले आये!

उन्होंने मुझसे पूछा—आप रामधारी जी को पहचानते हैं?

मैंने सिर हिलाकर जवाब दिया—नहीं!

उन्होंने कहा—रामधारी जी भी एक शिक्षक हैं!

मैंने पूछा—कहाँ?

प्रधान जी ने कहा—आस्ट्रेलिया में!

रामधारी जी विरोध करते हुए बोले—मूलतः मैं बी. एच. यू. की सेवा में हूँ।

थोड़ी देर के लिए मैं स्तब्ध रह गया। वेश-भूषा से तो विदेश में प्रोफेसरी करने वाले विद्वान की तरह रामधारी जी नहीं लगते! बहुत साधारण और सरल व्यक्ति हैं। स्तब्ध इस बात के लिए भी था कि मैं अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़कर हाई स्कूल में, इस देहात में आ गया था। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि कैसे कोई युनिवर्सिटी की पढ़ाई पूरी कर लेता!

प्रधान जी ने जानकारी दी कि वे पेट्रो-केमिकल इंजीनियरिंग के प्रोफेसर हैं। उनकी खोज है कि साधारण कोयला से पेट्रोल बनाया जा सकता है। उसके लिए मशीन और डिजाइन बनाकर उन्होंने दे दिया है। विलायत की पत्रिकाओं में उनके आलेख छपे हैं। अपने विषय में अध्यापन करने हेतु वे अमेरिका-कनाडा से हो आये हैं। इन दिनों आस्ट्रेलिया में पढ़ाने वाले हैं।

मेरा आश्चर्य और बढ़ गया।

मैंने कहा—गगन को साथ रखिये। उसके लिए अच्छा होगा।

उन्होंने कहा—परिवार साथ रखना सही नहीं होगा। पिता वृद्ध हैं। गाँव में थोड़ी जमीन भी है। उसमें सब्जियों की खेती होती है। पत्नी भी उतनी योग्य नहीं हैं कि उन्हें लेकर देश-विदेश घूमा जाये। पत्नी गाँव में रहकर सास-ससुर की सेवा को बहतर मानती हैं।

मैं रामधारी जी की बात को आश्चर्य से सुनता रहा। फिर गगन का मासूम चेहरा याद आया। वह बालक अपने परिवेश में पर्याप्त सन्तुष्ट था। किसी व्याकुलता की रेखा उसके ललाट पर नहीं दिखती थी।

चाय पीकर मैं स्टाफ रूम में आ गया था और अगली कक्षा के लिए अपने मन को मजबूत कर रहा था।

किन्तु, रामधारी जी, जैसे अनेक दिनों तक मेरे मन में घूमते रहे। स्वाभाविक ही था कि गगन के लिए जो ममत्व मेरे मन में था, वह कुछ और बढ़ गया।

तीन-चार दिनों बाद की घटना है। स्कूल से फुरसत पाकर बाजार की तरफ जा रहा था। बाजार जाना दैनिक कार्यक्रम था। शाम का नाश्ता बाजार में ही करता था।

बाजार के रास्ते में रामधारी जी मिले। दुआ-सलाम हुआ। गगन की पढ़ाई पर बातें हुईं।

रामधारी जी के हाथ में पाँच लीटर वाला पेट्रोल का टिन था। उस समय तक तेल इत्यादि ढोने के लिए प्लास्टिक वाले डब्बे का चलन नहीं हुआ था, और न ही ऐसे डब्बों के लिए 'गैलन' शब्द प्रचलन में आया था।

उनके हाथ में पेट्रोल का खाली टिन देखकर आश्चर्य हुआ। पूछने पर उन्होंने बताया कि वे किरासन तेल लेंगे। पिता वृद्ध हैं। बाजार नहीं आते हैं, गगन अभी छोटा है। इस काम के लिए अभी वह भी योग्य नहीं हुआ है। गाँव की दुकानों से की पत्नी शीशी, बोतल में तेल ले आती हैं और गाँव में ढिबरी की रोशनी से काम चलाती है।

मैंने पूछा कि उनके गाँव के लिए आवंटित सरकारी राशन की दुकान कहाँ है? उन्होंने हरिवल्लभ का नाम कहा। हरिवल्लभ की दुकान बीच बाजार में है। रामधारी जी का घर बाजार से दो-ढाई मील दूर है।

रामधारी जी को मैं क्या कहता? किरासन तेल तो मिलना दुर्लभ था।

हरिवल्लभ को मैं पहचानता था। वह स्कूल पर भी आता था। आवंटित राशन लेना होता, तब आता था। राशन लेने के लिए पैसे जमा करने पड़ते थे। उसके बाद बी. डी. ओ. के ऑफिस में परमिट बनती थी। हरिवल्लभ जी के पास पूँजी नहीं थी। वह हर बार मेरे सहकर्मी सोनमणि बाबू के पास आता था। राशन सामग्री ब्लैक रेट में बिकती थी। सोनमणि बाबू का कहना था कि पैसा मेरा, लाइसेन्स तुम्हारा। मुनाफा आधा-आधा बाँट लो। सोनमणि बाबू की यह कमाई बहुत शानदार थी। हफ्ते-भर में ही पाँच हजार, छह हजार रुपए मिल जाते थे।

सोनमणि बाबू की एक और शानदार कमाई थी। बाजार में अधिकांश चाय-पान वालों को उन्होंने पूँजी दे रखी थी। उन दिनों रुपयों का बहुत मोल था। एक सौ रुपए पूँजी देते, और रोजाना शाम को उसका ब्याज दस रुपए दैनिक वसूल लेते

थे। मूलधन जस-के-तस पड़ा रहता था। दस रुपए रोजाना जमा हो जाते थे। चाय वालों की दुकान में चाय पीते, तो उसके पैसे नहीं लगते थे। पानवालों की दुकान में पान खाते, तो उसके भी पैसे नहीं लगते थे।

बाजार की शुरुआत में रजिस्ट्री आफिस था। उसके निकट अनेक दुकानें थीं। उन्हीं में से एक दुकान में मेरे सहकर्मी, सोनमणि बाबू अपना दरबार जमाये हुए थे।

वे मुझे देखते ही बोले—ओ जी साइन्स बाबू! आइये-आइये! चाय पीजिये।

मैंने कहा—मुझे भूख लगी है। पहले कुछ खाऊँगा, फिर चाय पीऊँगा। उन्होंने कहा—अजी आइये! पहले चाय पी लेते है। फिर आप चले जाइयेगा। मन मारकर उनके दरबार में जा बैठा। ढेर सारे लोग बैठे थे। अधिकांश लोगों को पैसे की जरूरत थी। ज्यादातर लोग छोटे-छोटे व्यापारी-बनियाँ थे।

सोनमणि बाबू के पिता भैंस चराते थे, कुछ खेत भी थे, उसमें धान की खेती करते थे। सोनमणि बाबू ने सारी परीक्षाएँ पास तो की ही थीं, पर ज्यादातर वे पैरवी से ही पास हुए थे। हम लोगों ने जो भी परीक्षा पास की थी, वह बगैर पैरवी के। इसीलिए सोनमणि बाबू आमने-सामने हम लोगों से झेंपे हुए रहते थे। पर, परोक्ष में हम लोगों को तुच्छ साबित करने में आनन्दित होते थे।

सोनमणि बाबू पढ़ाई के दिनों में ही पैरवी और जोर जबर्दस्ती का महत्त्व समझ गये थे। इसीलिए पैसे का भी महत्त्व जान गये थे। इसीलिए उन्हें पैसे कमाना, पढ़ने से कहीं अधिक जरूरी लगा था, और जो व्यक्ति पैसे को महत्त्व देता है और पैसे कमाने के ढंग में संकोच छोड़ देता है उसके पास पैसे एकत्र हो भी जाते हैं। सोनमणि बाबू के पास कुछ पैसे एकत्र हो गये थे। और यह संचित धन उन्हें किसी पैतृक उत्तराधिकार में नहीं मिला था, अपनी कमाई से मिला था। और, यह संचित धन बड़ी तेजी से दोगुन-चौगुन हो रहा था।

मैं और सोनमणि बाबू एक ही स्कूल में कार्यरत हैं। किन्तु कमाई के नाम पर दोनों में बड़ा अन्तर है। उनकी दैनिक आमदनी दो सौ रुपए थी और हम लोगों को चाय पीने तक के खर्च पर साँसत थी।

उसी सोनमणि बाबू के दरबार में बैठ गया था। वे छोटे-छोटे वणिक्-व्यापारियों से खुशामद करवा रहे थे। सम्भव है कि अपने इस रुतबे को दिखाने के लिए मुझे बुला लिये हों।

मैंने कहा—सोनमणि भाई! चाय का आदेश भी देंगे या मुझे ही अपनी जमीन्दारी में उलझाए रखेंगे?

सोनमणि ने बाबू ने कहा—हड़बड़ाये हुए क्यों हैं? अब कौन-सी जल्दी है?

और फिर चाय आ गयी।

चाय आने के बाद सोनमणि बाबू से मैंने कहा—भाई, मुझे भी आपसे एक काम है?

ये चकित होते हुए पूछ बैठे—हाँ-हाँ, बोलिये न! क्या बात है?

मैंने कहा—रामधारी जी के हाथ में किरासन तेल का खाली टिन है। उसके बूते तो तेल सम्भव होगा नहीं! उसे तेल दिलवा दीजिये।

सोनमणि बाबू ने कहा—मैंने भी देखा है रामधारी को! उसके हाथ में टिन भी देखा है। यह भी जानता हूँ कि साला नाक रगड़कर मर जाएगा, उसके बूते बूँद भर तेल पाना सम्भव नहीं होगा। ...बौखने दीजिये साले को! समझने दीजिये उसे कि इस देश में पढ़े-लिखे लोगों की क्या औकात है? हम लोगों ने नहीं पढ़ा, उससे क्या? घर पर पाँच टिन तेल का काम होगा, तो मिनटों में पहुँच जाएगा। आप इस बीच में मत पड़िये। साले को समझने तो दीजिये कि सिरिफ पढ़ाई करने से क्या होता है?

सोनमणि बाबू के पैसों की चाय पी रहा था। चाय एकाएक घृणित लगने लगी। कदाचित रामधारी जी की धज्जियाँ उड़ाने के क्रम में सोनमणि बाबू हम लोगों को भी पीट-पाटकर सीधा कर रहे थे।

किन्तु चाय फेंक न सका। बल्कि वह चाय मुसीबत जरूर हो गयी। मैंने कहा—उसे आस्ट्रेलिया जाना है। तेल मिला दीजिये।

सोनमणि बाबू अपनी जमींदारी में उलझ गये। कुछ वादा नहीं किया उन्होंने।

मैं भी आहिस्ता-आहिस्ता उठ गया। चाय पी चुका था। भूख लगी हुई थी। स्टेशन रोड में एक दुकान थी, वहाँ पकौड़ी अच्छी बनती थी। तुरन्त-तुरन्त पका कर देता था। मैं वहाँ जाने का अभ्यस्त था, वहीं विदा हुआ।

नाश्ते के बाद लौट रहा था कि फिर से रामधारी जी मिल गये। हाथ में खाली टिन झूल रहा था।

मैंने पूछा, तो उन्होंने पूरी राम कहानी सुना दी। राशन दूकानवाले हरिवल्लभ के पास गये तो उन्होंने कहा कि तेल नहीं है, आयेगा तो मिलेगा। बी. डी. ओ. के पास गये। अपना परिचय भी दिया, वही जवाब मिला जो हरिवल्लभ ने दिया था।

मैंने पूछा कि अब वे क्या करेंगे, तो उन्होंने जवाब दिया—क्या करेंगे, खाली टिन लिये हुए घर चले जाएँगे। पत्नी से कहेंगे कि तेल नहीं मिला। पत्नी फिर गाँव की दुकान से शीशी में, बोतल में, ढिबरी-भर तेल ले आयेंगी और ढिबरी जलाकर रात काट लेंगी।

मैं स्टेशन रोड से रजिस्ट्री ऑफिस की तरफ जा रहा था। संयोगवश रामधारी जी का घर लौटने का रास्ता भी वही था। दोनों लोग साथ-साथ जा रहे थे। चुपचाप। मेरे मन में व्यर्थता-बोध था। कदाचित उनके मन को भी व्यर्थता मथ रही होगी।

आखिरकार मैंने ही मौन भंग किया। कहा-एक बार सोनमणि बाबू को भी कहकर देखिये न! सम्भव है वे कोई तरीका निकाल दें।

उन्होंने कहा—सोनमणि? वो अपना सोनमणि? वह तो मेरा सहपाठी ही है!

भारी लद्धड़ था पढ़ने में! आले दर्जे का लखेड़ा! सुना है, आप ही के स्कूल में पढ़ाता है! क्या पढ़ाता होगा वह?

मैं रामधारी जी के प्रश्न का जवाब देने में असमर्थ था। अपनी असमर्थता को ढकने के लिए मैंने कहा—खाली टिन लेकर गाँव वापस मत जाइये।

फिर मैंने पूछा—अब कितने दिनों की छुट्टी बच गयी है?

उन्होंने कहा—छुट्टी कहाँ है, समाप्त ही समझिये! यही तो दिक्कत है! दस दिन रुक जाता, तो राशन के लिए नये आवंटन में तेल मिल जाता।

हम लोग रजिस्ट्री ऑफिस के निकट आ गये थे। चाय की दुकान की ओर झाँका तो भान हुआ कि सोनमणि बाबू दुकान की एक पूरी मेज पर कब्जा जमाये हुए हैं। दरबार लगा हुआ है, किन्तु पहले की तुलना में दरबार थोड़ा छोटा है।

रामधारी जी से मैंने कहा—इस दुकान में सोनमणि बाबू हैं। चलिये, एक बार उनसे अनुरोध करते हैं।

उन्होंने अनिच्छापूर्वक मेरी बात मान ली। प्रतीत हुआ कि वह केवल मेरे अनुरोध की रक्षा हेतु ही उस दुकान की ओर आ रहे हैं।

दुकान में प्रविष्ट हुआ। सोनमणि बाबू की आँखों में झाँका। प्रतीत हुआ कि उनको मेरी बात याद है।

हम लोगों को आते देखकर बोले—आइए, आइए, साइन्स बाबू! रामधरिया, तुम! गाँव कब आए?

उसी तरह रामधारी जी चकित होते हुए बोले—अरे, सोनमणियाँ, तुम कब इस स्कूल में आ गये?

आरम्भिक वार्तालाप के बाद सोनमणि बाबू ने पूछा—इस टिन में क्या है?

—टिन खाली है!

—क्यों?

—किरासन तेल के लिए लाया था।

—नहीं मिला?

—नहीं।

सोनमणि बाबू ने अन्त में रामधारी जी से पूछा—कितना तेल चाहिए?

जवाब मिला—पाँच लीटर।

सोनमणि बाबू पूछते रह गये कि पाँच ही लीटर क्यों, बड़े टिन में क्यों नहीं! किन्तु रामधारी जी को पाँच लीटर का ही प्रयोजन था।

सोनमणि बाबू ने हम लोगों के लिए चाय का ऑर्डर दिया। अपने दरबार में उपस्थित व्यक्ति को टिन दिखाते हुए उन्होंने इशारा किया। वह खाली टिन उठाकर बाहर चला गया।

इधर हम लोगों की चाय खत्म हुई कि उधर से किरासन तेल से भरा हुआ टिन आ गया।

सोनमणि बाबू ने पूछा—टिन तुम्हारे घर भिजवा दूँ? पहुँचाने वाला है!

रामधारी जी ने कहा—नहीं, नहीं! उसकी कोई जरूरत नहीं है! मैं खुद ही ले लूँगा। इस बात के लिए कष्ट करने की जरूरत नहीं है।

नानी

वह मौसी के यहाँ चल पड़ा।

यह पहला मौका है कि वह मौसी के गाँव जा रहा है। इससे पहले उसे अपनी तीनों मौसियाँ ननिहाल में ही मिलती रही हैं।

वह बिन बुलाये वहाँ जा रहा है, इसलिए जाना थोड़ा दुरूह लग रहा है।

जाने की एक ही वजह है। नानी ने कहा था कि वह जाकर फिरोजगढ़ वाली मौसी से कह आये। वह सुनेगी और आ जायेगी और उसकी देखभाल करेगी।

वह तीन दिन पहले नानी को देखकर गाँव आया था। नानी बिस्तर से चिपकी हुई थी। बच्चे की तरह मचलती-सी। मचल-मचल कर उसने कहा था—'झूठे कहीं के! सभी वादा करते हैं कि मैं तुमसे सच कहता हूँ, फिरोजगढ़ जाऊँगा और तेरी बेटी को लिवा ले आऊँगा। मैं राह देखती रह जाती हूँ। फिर दिन बीतते जाते हैं। न तो मेरी बेटी आती है और न उसकी खबर ही। तू भी मेरे सामने प्रतिज्ञा करेगा कि जाऊँगा और मेरे सामने झूठ-मूठ में सिर हिलाता रहेगा। आँगन की देहरी लाँघेगा और फिर भूल जायेगा। याद भी रहे तो सोचेगा कि बुढ़िया यों ही बड़-बड़ करती रहती है।

नानी हर बात को बहुत दोहराती है। एक की बात को बीसों बार न दुहराया तो बूढ़ा क्या? उसे याद आता है, बचपन में देवनारायण मास्टर गुणा के पहाड़े छड़ी लेकर बीस-बीस बार दुहरवाते थे। थोड़ा-सा गलती हुई कि छड़ी बरसा दी।

देव नारायण मास्टर छड़ी उठाते थे और छटपटा देते थे। नानी आँखों में आँसू भरकर बोलती थी—झूठे, धोखेबाज! नानी के आँसू बोलते थे—ठग! सारे ठग हैं। तू भी ठग है।

देव नारायण मास्टर की छड़ी और नानी के आँसुओं में कोई फर्क नहीं मालूम हुआ था।

एक-दो दिन जाड़ा ठिठुरता रहा। दिन के दो बजे तक धुन्ध बनी रहती। वह अपने यहाँ चमकीली धूप की प्रतीक्षा करता गया कि धूप निकले और नानी का संवाद

वह पहुँचा आये, मगर वह उलझकर रह जाता था। प्रत्येक दिन नहाने और खाने से फूर्सत होने पर बीते छन याद आ जाते थे। ननिहाल लौट आता था। आँगन के उत्तर वाले बरामदे पर धूप में नानी लिटायी रहती थी, अशक्त और निस्तेज। नानी की आँखों में आँसू भर आते थे—ठग कहीं का! तूने वादा किया था कि तेरा संवाद दे आऊँगा। ठग कहीं के! कह आये? तूने वार कर दिया और मटिया दिया—झूठे कहीं के!

बूढ़े-बूढ़ियों को यह क्या हो जाता है? जाड़ा गिरा कि वे कटे हुए पेड़ों की तरह गिर जाते हैं। अब उन्हें खड़ा करते रहो। सेवा करो, मालिश करो। दवा-दारू करो। पथ्य-पानी करो। खड़े हुए तो ठीक, नहीं तो माघ के जाड़े में किस्सा कोताह!

बुढ़ापा मानो जीवन नहीं है। मौत है बुढ़ापा। मौत जैसे धीरे-धीरे ग्रसती आती हो। यही है बुढ़ापा—यह किस खूबी से लाचार करता जाता है। बूढ़े-बूढ़ियाँ नचारी (लाचारी) गाते-गाते साफ हो जाते हैं। नचारी गाती थी उसकी नानी—ठग कहीं के! मान लिया और झुठला दिया। मेरी बेटी को नहीं लाये न। झूठे कहीं के।

वह कालेज में पढ़ता था और उसके पिताजी लिखते थे कि नानी बीमार हैं। प्रायः अनेक सालों से अथबल पड़ी हुई हैं। इधर छह महीनों से उसने खाट पकड़ ली है। पड़ी रहती है और सबों पर चिढ़ती रहती है।

वह एक दिन नानी के पास रहा। नानी का पुराना स्नेह खत्म हो गया। स्नेह का स्थान चिड़चिड़ेपन ने ले लिया था। हजार उलाहने। अपनेपन को याद दिलाकर अपने प्रति की जा रही उपेक्षा की कहानियाँ, सिर्फ उपालम्भ।

नानी कहती थी—'मुझे एक लोटा गरम पानी देना। गरम पानी से देह पोंछूँगी। ठंडे पानी से देह नहीं पोंछ सकती। देह नहीं पोंछूँगी, तो कपड़े कैसे बदलूँगी? कपड़े नहीं बदले, तो मुँह जूठा कैसे करूँगी?'

मामी जिद करती थी कि कपड़े बदलें तो ठीक, न बदलें तो ठीक, मगर हलवा खा लें।

नानी सामने हलवा रखकर पानी माँगती थी। कपड़े बदलना चाहती थी। नानी के सामने मामी बर्फीला पानी रख जाती थी। उसके बाद नानी का चिड़चिड़ाना शुरू हो जाता था। सिर्फ थोड़ा गरम पानी के लिए।

रसोई में बैठी मामी की पोतहू दाल चढ़ाये रहती थी, सुनती रहती थी और दाल का अदहन नहीं उतारती थी। वह डरती थी कि दाल कच्ची न रह जाए।

आँगन के बीचों-बीच धान उबालती हुई मामी सुनती रहती थी गरम पानी की बात, मगर उबालने का कनस्तर भट्ठी पर से नहीं उतारती थी। बूढ़ी उबालने के गन्दे पानी से देह नहीं छुलायेगी।

अन्त में नानी का चिड़चिड़ापन दूसरों को बहरा बनाता-बनाता उसकी अपनी आँखों में आँसू ले आता था और सामने परोसा हुआ हलवा निगलना मुश्किल हो जाता था।

दोपहर में बूढ़ी धूप में लिटाया जाना पसन्द करती थी। उसकी इच्छा रहती थी कि कोई सरसों का तेल उसकी पीठ में मलता रहे। पर ऐसा नहीं होता था।

नानी कहती रहती थी—'पीठ दुखती है। कोई तेल मली और सेंको।' उस दिन भी उसका ममेरा भाई धान कटवाने खेत चला गया था। उस दिन भी उसका मामा खलिहान में पाँच दर्जन धान के बोझों की दँउनी करवाता रहा था।

नानी कहती रही कि पीठ फटी जा रही है। जरा पीठ दबाओ और सेंक दो।

उस दिन भी मामी ने धान उबालने में सुबह की शाम कर दी थी। उस दिन भी मामी की पतोहू ने रसोई से छुट्टी पाकर धान का पयार उलटने-पुलटने में दिन खत्म कर दिया था।

वह कालेज से घर आया था। अपने गाँव से फिर ननिहाल आया था, जैसे लड़के पिकनिक पर जाते हैं।

नानी की हाय-हाय उसने सुनी थी। उससे भी पहले उसे अनसुना किया था। बाद में नानी के पास बैठा था। नानी से पूछा था—'नानी, मैं तेरी टाँगें दबा दूँ?'

नानी ने मना कर दिया था—'ना रे, तेरे से नहीं होगा। तू छोड़।'

पर नानी की हाय-हाय बन्द नहीं हुई। वह किसी का नाम नहीं लेती थी, पर सबका नाम लेती थी।

वह सरसों का तेल लाकर बैठा। दोनों हाथों में तेल मल लिया। नानी की पीठ पर हाथ फेरने लगा।

नानी की पीठ पर हाथ पड़ा नहीं कि नानी चौंक गयी—'कौन है रे?' उसने कहा कि वह थोड़ा तेल लगा देता है। नानी मना करती रही। वह अनसुना कर तेल मलता रहा। अकस्मात् नानी ने चिल्लाकर कहा—'रे राक्षस, तूने मेरी पसली तोड़ दी रे!' उसने तुरन्त नानी की पीठ से हाथ हटा लिये। बोला—'नहीं तो, मैंने तो नहीं तोड़ा! दुख गया क्या?'

वह भागकर दरवाजे पर आ गया था और सबसे पूछकर अपने गाँव लौट आया था।

क्या होता है? हर आदमी किसी-न-किसी चक्र पर बैठा हुआ है। चक्र अविराम घूमता है। चक्र पर घूमना ही इन्सान की जिन्दगी बन गयी है। चक्र की अपनी गति है, अपनी ताल-लय है। ताल-लय टूट जाये, तो इन्सान मिट्टी हो जाता है। ताल को भंग कर इन्सान ज़िन्दा नहीं रह सकता।

उसका मामा, मामी, उसका ममेरा भाई और वह अपने वैयक्तिक जीवन के ताल-राग में, राग-ताल में बन्दी हैं। अपनी-अपनी दिनचर्या के बन्दी हैं।

नानी झूठा न कह दे, इसलिए वह मौसी के गाँव जा रहा है। मगर?...

यदि मौसी ने भी अपनी व्यस्तता दिखायी और कह दिया कि बबुआ, अगहन है और उसकी व्यस्तता है। देख ही रही हो, कैसे जाऊँगी? जाऊँ तो साल-भर की आशा कैसे बिगाड़ दूँ?

मौसी का अपना छोटा संसार है, थोड़ी माया है। पर, मौसी का भी अपना राग-ताल है। वह राग-ताल तोड़ दे, तो इस संसार में फिर कैसे जियेगी? और उसने अगर अपना राग-ताल नहीं तोड़ा, तो नानी अपना अन्तिम माघ यूँ ही रोती-कलपती बिता देगी...

वस्तु

वह गाँव में कोई उत्तरदायित्व नहीं पालता। गाँव आता है, उसी तरह आता है और गाँव से जाता है, तो उसी तरह चला जाता है। वह सावन के मेघ-सा न तो भरा हुआ आता है और न लौटते वक्त हल्का होकर जाता है। वह वसन्त का शिथिल पवन है।

वह गाँव आते वक्त सिर झुकाये आता है और गाँव से जाते वक्त उसी तरह सिर झुकाये, लेकिन अपनी चाल तेज कर चला जाता है। बस।

गाँव आने पर उसने अपने दरवाजे को गौर से देखा। उसी तरह खाली और उदास। निर्जन और उपेक्षित दरवाजा। चारपाई और कुर्सियों पर धूल की परतें जमीं हुई। अनुपयोग से जैसी ये वस्तुएँ दिखनी चाहिए वैसी ही दिख रही थीं।

निर्जनता उसे अच्छी लगती है। लेकिन यहाँ की निर्जनता निरुद्देश्य थी। वह वहाँ खड़ा नहीं रहा। सीधे आँगन चला आया।

आँगन में उसने अपना बैग रखा, कुरता निकालकर टँगवाया। ओसारे पर लकड़ी का पीढ़ा उसे बैठने के लिए रख दिया गया। उस पीढ़े पर वह बैठ गया।

पत्नी को देखने के बाद लगा कि इस सप्ताह भी उसके स्वास्थ्य में सुधार के कोई लक्षण नहीं हैं। उसी तरह, किसी तोड़े हुए फूल जैसा बासी।

पत्नी को शायद उसके आने का अनुमान था। वह बाल-फीता बाँधे हुए थी। तोड़ा हुआ फूल जब डाल पर झूलते फूल-सा प्रफुल्लित दिखने का प्रयास करता है तो वह दयनीय लगता है।

'तबियत ठीक तो है?'

'ठीक ही है।'

'पँजरे का दर्द कम हुआ?'

'हाँ, दर्द कम है।'

वह चुप हो गया। उत्तर इतनी गम्भीरता से दिया गया था कि उसे लगा यही सच होगा।

एक लोटा पानी लाकर उसकी बेटी मणि रख गयी थी। उसने संवाद का थोड़ा अंश आँगन घुसने के पहले ही सुन लिया था।

'ऊँह। माँ का पँजरा परसों भी फूल गया था। दो दिनों तक बेचैन थीं। झूठ कहती है कि दर्द कम है।''

पत्नी ने मणि की ओर देखा। कष्ट से देखा। पत्नी ने समझा कि वह सच को जिस तरह परोसना चाहती है, मणि उसे तहस-नहस कर देती है।

पत्नी ने मणि की ओर शून्य दृष्टि से देखा। आहत होकर। उसने मणि और पत्नी की ओर देखा। मणि की बातों में जो सच्चाई थी, वह पत्नी के उत्तर के असत्य को प्रकट करती थी।

उसने अचानक अपने को निर्बल और असुरक्षित महसूस किया। पत्नी के रोग-शोक की गम्भीरता उसे दैनन्दिन कार्य-कलाप से अलग कर देगा। जो अपनी दिनचर्या से अलग हो जाता है, वह असुरक्षित हो जाता है।

पिछली बार वह जब आया था तो मणि ने कहा था कि माँ दवाएँ नहीं खातीं। दवाएँ उसी तरह रखी हुई हैं, कोठी पर। लेकिन याद दिलाने पर भी माँ दवाएँ नहीं खातीं। आग्रहपूर्वक टिकिया हाथ में देने पर भी वापिस लौटा देती हैं। इतने पैसे खर्चने पर दवाओं की यह दुर्गति।

एकान्त होने पर उसने पत्नी से पूछा–'तुम दवाएँ मँगवाकर खाती क्यों नहीं?'

पत्नी जैसे पहले से ही जानती थी कि उसे इस प्रश्न का उत्तर देना ही होगा। अनेक बार इसके उत्तर को विचारने के कारण कई सटीक उत्तर उसे सूझे थे। उसने उत्तर देना चाहा। लेकिन तय नहीं कर पायी कि इसमें कौन-सा उत्तर ठीक होगा।

इसलिए थोड़ी देर वह चुप लगा गयी।

भादव महीने में बारिस के पहले हवा जिस तरह स्तब्ध हो जाती है, पत्नी उसी तरह गुम्म हो गयी।

गुम्मी से झुँझलाकर उसने पत्नी को याद दिलाया था–'दवा के बारे में पूछा है। खाती क्यों नहीं?'

'सुनी, तभी भी सुनी थी।' पत्नी तिलमिला गयी।

'वही तो, दवा नहीं खाने से बीमारी छूटेगी भला?'

पत्नी फिर तिलमिलाकर बोली–'तुम यही कहोगे न कि मैंने बीमारी को पकड़ रखा है, तो ठीक है।'

'नहीं, बीमारी किसी प्रिय लगती है कि लोग उसे पकड़े रहेंगे? ऐसी बात मैं क्यों कहूँगा?'...वह थोड़ा नरम होकर बोला।

'तब क्यों तंग करते हो? तुम्हें मतलब ही क्या है? अपनी धुन में मस्त हो, मस्त रहो। मैं रोकने तो नहीं जाती हूँ न। मुझे भी जो होता है, करती हूँ, बस।'

वह हतप्रभ हो गया। पत्नी ने ठीक ही कहा था। वह बीमार पत्नी को दोड़ कर प्रत्येक सोमवार की सुबह में अपने काम पर सिद्धार्थ-सा निरासक्त होकर चला

जाता रहा है। अटककर, रुककर कोई उपचार कराने का धैर्य उसने कभी नहीं दिखाया था...।

उसे याद आया, क्रमशः याद आता रहा।

पत्नी को अस्वस्थ देखकर उसने अपने छोटे भाई से कहा था—'मणि की माँ का स्वास्थ्य ठीक नहीं है। डॉक्टर को दिखाना होगा।'

छोटे भाई ने जवाब दिया था—'दिखला दूँगा।'

सोमवार की सुबह में उसके चले जाने के बाद भाई ने डॉक्टर को लाकर दिखला दिया था।

चिट्ठे के अनुसार दवाएँ आ गयी थीं।

शनिवार को गाँव लौटने पर पत्नी ने उसे चिट्ठा दिखाया था। उसने अन्य मनस्क होकर, टालने-सा जवाब दिया था। पत्नी को—'ठीक ही होगा। डॉक्टर का चिट्ठा है, ठीक ही होगा। क्या देखूँगा, सिर्फ समय-समय पर दवाएँ खाती रहो, पथ्य-परहेज करो, बस...।'

इतना कहकर वह खूँटी की ओर बढ़ गया था। वह लुंगी गले में डालकर भीतर के वस्त्रों को ढीला करने लगा था, बेसब्री से, निष्कृति के लिए।

पत्नी हाथ में डॉक्टर के चिट्ठे को पकड़े आहत और अपमानित-सी खड़ी रह गयी। जैसे किसी छोटे-से लड़के ने स्नेह से हाथ बढ़ाया हो और उसकी माँ ने उसके हाथ को परे धकेलकर कह दिया हो—'जाओ, बाहर जाकर खेलो।'

उस चिट्ठे को बहुत यत्न से पत्नी ने कोठी पर रख दिया था।

किसी कारणवश पत्नी को दवाएँ नहीं सूट कर सकीं। सभी दवाएँ खत्म हो जाने पर डॉक्टर फिर बुलाये गये। डॉक्टर के बुलावे को पत्नी ने जिद पूर्वक मना कर दिया था। फिर भी, उसके छोटे भाई ने दुबारा डॉक्टर को बुलाकर नया चिट्ठा लिखवाया था।

ये सारी दवाएँ घर में चारों ओर फेंकी हुई थीं। उपेक्षित। पत्नी के उत्तर को उसने याद किया—'तुम अपनी धुन में मस्त हो, रहो। मैं टोकने तो नहीं जाती हूँ न।'

वह बहुत देर तक स्वयं मौन रहकर बोला—'मैं नौकरी पर जाता हूँ, यही न। लेकिन बीमारी दवा खाने से छूटेगी या मेरे नौकरी छोड़ देने पर छूटेगी?'

'तुम्हें नौकरी छोड़ने को किसने कहा? मैंने कहा तुम अपनी धुन में मस्त हो, रहो। मैंने तुम्हें नौकरी छोड़ने को थोड़े ही कहा है।'

'मैंने तुम्हें पूछा है दवाएँ क्यों नहीं खाती हो। इसका उत्तर इसमें एक भी नहीं है।'

पत्नी ने फिर कोई उत्तर नहीं दिया था। पत्नी की आँखों में कुहासा जमने लगा था, ऐसा उसने अनुभव किया। अप्रिय प्रसंग हो जाने पर वह चुप लगा गया था।

दूसरे ही दिन उसका भाई गाँव आया था। उसकी नौकरी अभी नयी है। छोटे भाई ने घर का सारा दायित्व उठा लिया है। घर में नमक-हल्दी वही जोड़ता है। कपड़ा-लत्ता भी वही जोड़ता है।

परिवार में कोई बीमार हुआ तो उसकी दवा भी वही जोड़ता है। वह बड़ा होकर भी पहले से ज्यादा अकर्मण्य और घर के लिए अनावश्यक हो गया है।

घर में लिया गया कोई भी निर्णय उसे सहज सुना दिया जाता है। निर्णय में उसे कोई सहभागी नहीं बनाता।

छोटे भाई ने अपनी असहायता और भाभी की चिकित्सा के लिए अपनी आतुरता दिखायी।

पत्नी रोग से जूझती हुई परिवार के उत्तरदायित्व को ढोती जा रही थी। खाना बनाना उसने नहीं छोड़ा था। पता नहीं, उसका स्वास्थ्य चौपट करके भी अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह क्यों करती जा रही थी।

शाम में खाने के समय छोटा भाई इस प्रसंग को खींचकर सामने ले आया था।

भाभी को यहाँ के डॉक्टरों की दवा सूट नहीं कर सकी। मेरे विचार से इन्हें दरभंगा के किसी अच्छे डॉक्टर से दिखला दिया जाता।

पत्नी थोड़ी देर चुप लगा गयी।

'यहाँ के डॉक्टर का इलाज तो चलता था। डॉक्टर ने क्या कहा कि दरभंगा ले जाइये?' उसने पूछा था।

'डॉक्टर से नहीं पूछा गया है।'...छोटे भाई ने कहा।

'मैं वैसे ही ठीक हो जाऊँगी।'...पत्नी ने अपना मौन तोड़ा।

'आपका स्वास्थ्य यहाँ और खराब हो जायेगा। इससे आपको क्या लाभ होगा?' छोटे भाई ने कहा।

'भोजन समाप्त होते-होते छोटे भाई ने कहा था—'भाई की बात ठीक नहीं होती है। दरभंगा के डॉक्टर अच्छी तरह जाँच कर दवा देंगे। उसी से इनका स्वास्थ्य ठीक हो सकेगा। इसलिए दरभंगा जाना आवश्यक है। इसमें ज्यादा देर करना ठीक नहीं होगा।'

भोजन के बाद दोनों दरवाजे पर आ गये थे। लालटेन को बगल में रखकर दरवाजे पर रखी कुरसियों को उसने साफ किया था। दोनों भाई कुरसी पर बैठ गये थे।

छोटे भाई ने कहा था—'मैंने भाभी से दरभंगा चलने के लिए कहा था। लेकिन वे जाने को कतई तैयार नहीं हैं।'

उसने कहा था—'उसकी यह जिद ठीक नहीं। उसका स्वास्थ्य ठीक रहना उसके लिए भी जरूरी है। वह आगे नहीं बढ़ेगी तो उसकी चिकित्सा कैसे होगी?'

थोड़ी देर मौन रकहर उसके छोटे भाई ने कहा था—'उनकी जिद मुझे अच्छी

नहीं लगी। भाभी को मेरे साथ जाने में दुविधा होती है। मैं पैसे लेकर आया हूँ। पर भाभी को दरभंगा ले जाइये। हो सकता है आपके साथ वे तैयार हो जायें।'

वह चुप हो गया था। वह विचारने लगा था कि साथ जाना मुख्य बात नहीं है। किसी के साथ जायेगी, बात एक ही है। देखेगा तो डॉक्टर ही। वह फीस लेगा और दवाएँ लिख देगा। किसी का साथ जाना महत्त्वपूर्ण नहीं है।'

वह चुप होकर विचरने लगा था कि अगर वह दरभंगा जायेगा तो उसे छुट्टी लेनी होगी। कई काम बिगड़ जायेंगे। तब उसने विचार किया था कि अगले सप्ताह वह छुट्टी लेकर आयेगा और निश्चिन्त होकर दरभंगा जायेगा। उसी दिन जाना आवश्यक नहीं था।

रात में उसने पत्नी से फिर पूछा—'दरभंगा जाने के लिए तुम तैयार क्यों नहीं होती हो?'

'दरभंगा क्यों नहीं जाऊँगी।' पत्नी ने बहुत सहजता से उत्तर दिया था।

उसे आश्चर्य हुआ कि बात कितनी सीधी है। तब इस बात के लिए इतना विवाद क्यों होता है?'

'वचनू बोल रहा था कि तुम तैयार ही नहीं हुई थी। उसने तो दरभंगा जाने के लिए तुमसे आग्रह किया था।'

'हाँ, उन्होंने सचमुच कहा था। उन्हें व्यग्रता भी है। वे ले भी जायेंगे। लेकिन...।'

वह साकांक्ष होकर सुन रहा था। पत्नी ने बात को बीच में ही छोड़ दिया था, सो वह उसका भाव नहीं समझ सका।

उसने आगे कहा—'फिर क्या हुआ?'

पत्नी आक्रमण करने के लिए तैयार होती बोली—'यही तो मैं तुमसे पूछना चाहती हूँ। यही बात तुम क्यों नहीं पूछते हो? छोटा भाई अगर घर का भार उठा लेता है तो क्या बड़ा भाई जंगल चला जाता है?'

'जंगल न तो मैं गया हूँ और ना ही जाने का इरादा है।' वह आहत होकर बोला था।

'बच्चा' ने घर के भार को उठा लिया है, यह तो उन्हीं से सम्भव भी था। बहुत अच्छा किया है। लेकिन सबों के कुशल-मंगल भी उन्हीं पर सौंपकर तुमने कौन-सा उत्कीर्णा किया है।'

'कहाँ छोड़े हुआ हूँ।' उसने कहा था।

'इस्स'। तुम्हें कैसे समझाऊँ? तुमने न तो डॉक्टर से दिखलवाया, न ही दवा देखी। मुझे याद है कि मैंने तुम्हें डॉक्टर का चिट्ठा दिखाया था, उसे तुमने जान-बूझकर फेंक दिया था। तुम्हीं ने ता कहा था कि डॉक्टर ने ठीक ही लिखा होगा।'

वह अपराध-भावना से ग्रस्त हो गया था। उसे याद आया कि सचमुच उसने कोई उत्सुकता नहीं दिखाई थी।

पत्नी ने आक्रमण करने के लिए जितने अस्त्र तैयार किये थे, प्रायः वे सभी खाली नहीं हुए थे। वह दूसरा अस्त्र उठाती बोली—'तुम सिर्फ मुझे ही दोष देते हो। मैं सिर्फ 'बच्चा' की भाभी हूँ या और भी कुछ हूँ?'

उसने आहत होकर कहा था—'इससे क्या अन्तर होता है? दवा-दारू नहीं हो तब न?'

'यही तो समझने की बात है। तुमने तो परिवार के लिए एक 'वस्तु' बना डाला है मुझे। लेकिन मैं परिवार की वस्तु नहीं हूँ...।'

पत्नी कुछ और कहना चाहती थी। लेकिन वह चुप हो गयी थी। उसकी आँखों में एक चमक जगी थी और जिसे विलीन होने में कुछ समय लगा था।

वह अकबका गया था। उसने कहा था—'अच्छा-अच्छा, अब मैं ही ले चलूँगा तुम्हें...।'

यह बोलते-बोलते उसे लगा कि वह बहुत बड़ा मूर्ख हो गया है और उसका कुछ भी बोलना उसकी मूर्खता को और भी उजागर करना है।

कीड़े

जब जमींदारी थी, तब इस घर में तहसीलदार रहते थे, अब बी. डी. ओ. रहते हैं। ब्लॉक ऑफिस और डेरा बन जाने के बावजूद उन्होंने इस पुराने घर को नहीं छोड़ा है।

मैं यहाँ नित्य आता हूँ। साहब से एक घंटा, दो घंटा अथवा कभी-कभी अध्यात्म और साधना पर वाद-विवाद कर लेता हूँ और चला जाता हूँ। जिस दिन नहीं जाउँ, उस दिन साहब मेरे मकान पर जीप लगा देंगे। अब करते रहो उनकी खातिर! उस पर भी यदि उनके गणों को सुगन्ध लग गयी तब तो और भी वेदना!

इसीलिए मैं नित्य यहाँ आ जाता हूँ।

साहब नहीं आये हैं।

उत्तर की तरफ है आँवले का पेड़। उजले-उजले फल पूरे पेड़ में गूँथे हुए लगते हैं। माला के मनके जैसे सँभालकर रखे हों। कनेर पर हरदम दस कली और दस फूल दिख पड़ते हैं। सिंगारहार की कलियों को रात की प्रतीक्षा है।

कौआ, मैना और चिड़ियों ने इस पेड़ पर शोर मचा रखा है। स्वभावतः ध्यान चिड़ियों पर चला जाता है। मैं ध्यान से कौए को देखता हूँ। वह जैसे कूदकर नीचे आया और लप् से किसी कीड़े ने उसने लपक लिया। मैं अपने आसन से उठ गया। देखने लगा कि कौन कीड़ा है।

एक हरे रंग का कीड़ा दीवार से बाहर हो रहा था। बहुत पुरानी दीवार है इस मकान की भूकम्प से पहले का घर है। कीड़ा इसी घर से बाहर निकल रहा है। मैं ठेहुने के बल पर खड़ा हो गया। कहाँ से आते हैं ये सब?

पंक्ति लगी हुई है—कीड़े के बाद कीड़े आ रहे हैं। पता नहीं धरती से निकल रहे हैं अथवा छप्पर से गिर रहे हैं? अथवा दीवार के गर्भ से जन्म ले रहे हैं ये कीड़े सब। आश्चर्य! मैं किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँच सका। मन थक गया। पुनः कुर्सी पर वापस आकर बैठ गया। कौआ कूदकर आता रहा और अपने शिकार को ले जाता रहा। क्रमशः बहुत से कौए आ गये। अब चिड़ियाँ भी साहस करके आने लगीं। लगता था जैसे चिड़ियों का उत्सव हो। किसी असीम लाभ का बहुत बड़ा अवसर हो।

''महात्मा जी प्रणाम,''

''आशीर्वाद!''

मैंने घूमकर देखा। एक चपरासी साहब के डेरे पर आया है। मैं उसे आशीर्वाद देने के बाद अध्ययन करने लगा कि वह कितनी जल्दबाजी में है और कितनी देर में साहब घर लौटेंगे।

मगर किसी भी प्रकार की अटकल नहीं लग सकी।

''मंडल, साहब कब तक आएँगे?''

कौन कहे? साहब आने के लिए अँगड़ाई लेकर खड़े थे कि मुखियों का प्रतिनिधि मंडल आ गया। साहब उसमें परेशान हैं। आना चाहते हैं।

चपरासी घर में घुस गया। घर में कुछ समय तक वह अलोपित रहा, और फिर बाहर आया तो उसके हाथ में फाइल थी। सम्भवतः राशनिंग वाली फाइल।

चपरासी को लौटकर जाते देखा तो मन हुआ, कह दूँ कि साहब से कह देना कि महात्मा जी बैठे हुए हैं। मगर कह नहीं सका। चैम्बर में किस तरह की उलझनों में फँसे होंगे साहब! वे स्वयं मोक्ष के लिए व्याकुल होंगे और स्वयं ही मोक्ष की व्यवस्था भी कर सकेंगे।

फाइल लेकर चपरासी चला गया। बँगले के आँगन में अकेला पड़ा मैं थकने लगा। फिर एक बार मौलश्री की बेल को देखा। बरहड़ के पेड़ के बड़े-बड़े पत्रों को देखा। पीपल का पेड़ देखा। बेल बारह महीने पेड़ से लटकी हुई रहती है।

तब तक एक बुलबुल आ गयी। वे सब भी कीड़ों के शिकार में सम्मिलित हो गयीं। मैं उठकर दीवाल के किनारे चला गया। यह देखने कि कैसे सभी चिड़ियों को एक-न-एक कीड़ा मिल ही जाता है।

देखता हूँ कि कीड़ों की लाइन मोटी और घनी होती जा रही है। पहले से दुगुने कीड़े आने लगे हैं।

लौटकर फिर कुर्सी पर आ गया। पहले तो बड़ी हँसी आयी कि सृष्टि का भी कैसा विचित्र सन्तुलन है—एक तरफ से कीड़ों का वेगाभिमुखगमन लगा हुआ है तो दूसरी तरफ से चिड़ियों के झुंड लपकते जा रहे हैं। जैसे एक-दूसरे का अनिवार्य ध्रुव एक ही संग जीना और मरना है।

मेरे वापस लौटने पर बहुत-सी चिड़ियाँ एक ही बार जूझ पड़ीं। चिड़ियों के एक झुंड ने एक ही बार शिकार को चोंच में भरा और उड़कर पेड़ की डालों पर कलेवा करने चले गये।

इस तमाशे से मन भर गया। उठकर टहलने लगा। मगर छोटे-से आँगन के छोटे-से उद्यान में टहलना वैसा ही था जैसे बाएँ मुड़...

इससे भी ऊब गया तो गुलदाउदी के पेड़ के पास खड़े होकर फूलों के रंगों को निहारने लगा।

एक बार मन हुआ कि घर वापस लौट जाता हूँ। बी. डी. ओ. तो साहब है। साहब का क्या ठिकाना? इस अनिश्चय के पीछे कितनी देर उसके बँगले को अगोरे रहूँ?

घर के पीछे सूर्य भगवान लुक-छुप कर रहे थे। लौटने में अँधेरा भी हो जाएगा। भादो की अँधेरी रात में रास्ते में चलना असुविधाजनक होता है।

फिर आशंका हुई कि साहब को कोई विलम्ब हो गया और वे खीझे हुए होने पर अपनी जीप मेरे घर की तरफ न मोड़ दें। तब तो मेरी भी शान्ति भंग हो जाएगी और मेरे क्रिया-कलाप भी खंडित हो जाएँगे।

एक बार उनके बँगले की तरफ गया। फिर वापस आया। संसार के चक्रानुसार रात हो गयी। अच्छे चक्कर में मैं फँस गया था। एक बार फिर कीड़ों की याद आ गयी। वे वैसे ही झुंड-के-झुंड दीवाल से निकल रहे थे।

तब तक साहब बँगले में बालछड़ी की मेढ़ के बीच दीख पड़े। मन आश्वस्त हुआ कि अब भेंट होगी और छक्का छुड़ाकर मैं भी अपनी राह लूँगा।

''महात्मा जी प्रणाम!''

''आशीर्वाद।''

''दीवाल के पास किसका ध्यान लगाये हुए हैं?''

''आइये, देखिये कौतुक। देखिये कीड़ों की पंक्ति और देखिये कि पंकित को किस तरह से पोंछती जा रही हैं चिड़ियाँ? और इन चिड़ियों को सूचना किसने दी?''

''मकान बहुत पुराना हो गया है। कीड़े निकल रहे हैं। बहुत गन्दा है यह घर। लोगों की आलोचना के कारण नहीं जा रहा हूँ नये बँगले में, वैसे और सभी वस्तुएँ ठीक ही हैं।''

''वह कहाँ कह रहा हूँ मैं? मैं तो कहता हूँ कि सृष्टि का क्रम देखिये। सृजन और विनाश संग-संग निश्चित है। दुर्निवार है, वह कहता हूँ।''

''सचमुच।''

साहब अन्दर चले गये। दस मिनट बाद फिर बाहर निकल आये। वैसे ही जूता-कमीज पहने हुए। कोई वस्त्र-परिवर्तन नहीं किया था।

मैं भी तब तक अपनी कुर्सी पर पुनः टँग गया। साहब आये और दूसरी कुर्सी पर बैठ गये।

''पहले ही आता मगर, आठ-दस मुखिया इकट्ठे होकर आ गये। कहने लगे, प्रतिनिधि मंडल लेकर आया हूँ। मगर काम क्या तो—अमुक डीलर ब्लैक करता है... अमुक की डीलरी छीन ली जाए...हद हो गयी। प्रत्येक मुखिया का अलग डीलर। हरेक की एक ही बात। हरेक की नमक-मिर्च दी हुई बातें सुनो। मैंने खीझकर कह दिया कि पक्का प्रमाण दीजिये। अभी सब ठीक हो जाएगा। मगर, संक्षेप में बात करता कौन है? सबों की पूरी-पूरी बात सुनिये, वह भी खील फुन्सी समेत..., अरे भई बात को सीधा करके कहो, छीलकर कहो...बात तो एक ही रहती है।''

लोग क्षुद्र लक्ष्य की परिक्रमा कर रहे हैं। क्षुद्र लक्ष्य लोगों को बातूनी बना देता है। साहब, जैसे ही आपका लक्ष्य बहुत बड़ा हो जाएगा, आप गूँगे हो जाएँगे।''

बुलबुलों ने कीड़ों को पकड़ना बन्द कर दिया था और अब पेड़ की डाल पर बैठकर गीत गाने लगी थीं। जैसे वे थक गयी हों। अथवा अपने दूसरे लक्ष्य के पीछे बेहाल हो गयी हों।

बालछड़ी की मेढ़ में एक सफेदधारी दीख पड़े। साहब ने साकांक्ष देखा, ''आइये मुखिया जी, मंडल, मंडल एक कुर्सी और लाओ।''

मुखिया जी ने बड़ी विनम्रता के साथ प्रणाम किया। उन्होंने मुझे भी हाथ जोड़ा।

''ओह, कुर्सी से क्या करना है। पाँच मिनट भीतर ही चलते।''

''कोई एकान्त की आवश्यकता है क्या?''

''पाँच मिनट के लिए चलिये।''

साहब आगे-आगे चलने लगे। ओसारे पर चढ़कर वे एक कमरे की चौखट में अलोप हो गये।

उजली खादी पीछे-पीछे नुड़ियाती गयी। वह भी उसी चौखट में गायब हो गयी। छिद्र-रहित!

बुलबुलों का शोर वैसा ही। उनकी कचर-पचर अच्छी लग रही है। पक्षियों का कोलाहल इसलिए अच्छा लगता है कि उनका कोई आर्थिक लक्ष्य नहीं होता है, स्वार्थ की खाद से उनकी बोली नहीं गुनगुनाती है।

''उसी डीलर के खिलाफ आपकी शिकायत थी न मुखिया जी।''

''हाँ, हाँ वह तो ठीक ही है।'' मुखिया जी घिघियाते हुए बोले।

थोड़ी-सी भी तेज आवाज इस जगह वैसे ही सुनाई पड़ जाती है। यदि देखूँ तो पूरब वाली खिड़की से साहब और मुखिया दोनों के मुँह भी वैसी ही दिख पड़ेंगे, मगर मैं क्यों देखूँ?

''उस डीलर को मैं आदेश दूँ कि वह आपको हिस्सा दे?''

''हिस्से की बात कौन कह रहा है? हे हे...''

''हिस्से के लिए ही न बीस किलो चीनी, एक कुन्तल गेहूँ, दो टिन मिट्टी तेल आपको वह कंट्रोल रेट पर दे दे और समूचे गाँव को ठग ले कि वह ब्लैक नहीं करता है और आप...''

साहब किसी अप्रिय बात को जबान पर लाने में रुक गये। कुछ पल तक कमरे की आवाज़ सँभल गयी।

बुलबुलों का शोर बढ़ गया।

''एक बात मेरी मान लें हुजूर, मैं उसके बदले में ब्लॉक ऑफिस में होने वाली प्रदर्शनी भंग करवा दूँगा। यह मैं कर सकता हूँ। यह बात गाँठ बाँध लीजिए।'' कमरे की आवाज़ जगकर फिर सो गयी।

कुछ क्षण के बाद खादी सरक कर बाहर आ गयी। मैं उठकर पुनः कीड़ों को देखने चला गया। कीड़ों का आना वैसे ही लगा हुआ था। चिड़ियों का झुंड थक गया था। अब किसी में साहस नहीं रह गया था कि कीड़ों को लपककर ले जाए।

मैं विमूढ़ हो गया। सृजन और विनाश का चक्र एक बार टूट गया था। मैं लौटकर अपनी कुर्सी पर आ गया। मन को आश्वस्त करने लगा। कुछ देर में साहब आये। कमीज को बाहर कर लिया था। जूते निकालकर चप्पल पहन ली थीं।

साहब आकर कुर्सी पर बैठ गये। वे पसीने से तर-ब-तर हो गये थे।

''साहब, सर्वांगासन किया है? ध्यान स्थिर रहता है?''

ध्यान ही नहीं रहता है महात्मा जी। आकाश और धरती बड़ी दूर है।''

अपनी कुर्सी और पेट की उलझन माथे में घुस जाती है। ध्यान नहीं होने से पद्मासन भी व्यर्थ का कष्ट लगता है।

तब तक देखा कि दूसरे खद्दरधारी बालछड़ी के गेट में प्रवेश कर रहे हैं।

यह भी मुखिया है। प्रतिनिधि-मंडल में यह भी था। अब अकेले जा रहा है। पता नहीं। कौन-सी जरूरत है।

साहब भुनभुनाये।

साहब अन्यमनस्क से खड़े हो गये, फिर से अपने कमरे में एकान्त प्रयोजन हेतु जाने के लिए स्वयं को ठोंककर तैयार करने लगे।

“आइये, आइये मुखिया जी।”

वे मेरी तरफ मुड़कर बोले, “महात्मा जी, प्रणाम, आज योग पर बातें नहीं हो सकेंगी। आपको अँधेरा हो रहा है।”

रज़ाई

गवैया बाबा चले गये।

गवैया बाबा! चिन्नी बाबू को हँसी आ गयी। उन्होंने गवैया बाबा को कभी गाते नहीं सुना था; अब तो कोई सुन भी नहीं सकता। गवैया बाबा चले गये।

नाम एक निरर्थक शब्द होता है—वह कैसे खिंचते-खिंचते चिरकालजीवी हो जाता है! चिन्नी बाबू ने सोचा—गवौया बाबू से वह नाम कालान्तर में गवैया काका हुआ होगा और फिर कालांतर में गवैया बाबा हुआ होगा। अनेक पद बदले पर गवैया शब्द रह गया। अब भी वह कुछ दिनों तक घिसटता रहेगा और कभी ख़त्म हो जाएगा।

विचारों के प्रवाह में चिन्नी बाबू के कदम चंचल हो उठे और आगे चलने वाले कठियारी (चिता में लकड़ी देने वाला) के पाँव से उनके पाँव टकरा गये। तभी चट से याद आया कदम-से-कदम नहीं छूना चाहिए। उसके रोंगटे खड़े हो गये। फिर उन्होंने उसका समाधान ढूँढ़ निकाला कि यह नियम लौटते समय का है, जाते समय इस प्रकार की कोई बन्दिश नहीं है।

उन्होंने सोचा कि चित्त को चंचल नहीं होने देना चाहिए। उन्होंने अर्थी पर टँगे गवैया बाबा को देखा। झक सफेद कफन में लिपटे-बँधे गवैया बाबा। चार जनों के कन्धों पर ढुलते गवैया बाबा।

गवैया बाबा बड़े शौकीन व्यक्ति थे। खाने का शौक था, पर सिर्फ अपने ही खाने का शौक। दूसरे का खाना पसन्द नहीं था। खुद बहुत चटोरे थे।

दूसरी चीज़ों का भी शौक था। मरते समय भी उन्होंने बहुत सुन्दर रजाई बनवायी थी। एक ही महीना तो हुआ था। कातिक के अन्त में पुरानी रजाई को फेंक-फाँक कर हो-हल्ला करके उन्होंने नयी रजाई बनवायी थी। फर्स्ट क्लास पल्ला, इटालियन अस्तर, नीले रंग के पॉप्लिन की मग़ज़ी और खादी भंडार वाली तीन किरो रूई। वास्तव में रज़ाई अच्छी बन पड़ी थी। वह चौबीसों घंटे उस रज़ाई में घुसे रहते। दिन भर दरवाज़े पर धूप में पड़े रहते और इधर-उधर जाने वालों को आवाज़ देकर रोकते, किसी को पास बुला लेते। उन्हें मरना इष्ट नहीं था। इसलिए सभी समझ गये थे कि अगर उन्हें यह कहा जाए कि आपकी सेहत अच्छी हो रही है तो वह प्रसन्न होंगे।

चिन्नी बाबू को याद आ रहा है कि पिछली बार वह गाँव आये थे तो उन्होंने

गवैया बाबा से कहा था, ''बाबा, अब आपका चेहरा अच्छा लगता है। रोग दूर हो गया। थोड़ी और ताकत आ जाये तो आप खूब चलने-फिरने लगेंगे।''

''क्या सचमुच? तुम्हें भी लगता है? मुझे भी अपना जी अच्छा लगता है। सिर्फ सुबह में गले में कुचकुचाहट होती है तो खाँसना पड़ता है।''

''बाबा, खाँसी की दवा नहीं लेते?''

''क्या कहूँ! ये बदमाश क्या ध्यान देंगे?'' और बाबा ने बड़ी सावधानी से अपनी हथेली फैलायी और उसे देर तक देखते रहे; उलट-पुलटकर देखते रहे। चिन्नी बाबू को लगा जैसे बाबा कोई उत्साहवर्धक सम्मति चाहते हैं।

''बाबा, हाथों में भी चिकनाहट आयी है; पहले से अच्छे दिख रहे हैं।'' बाबा ने प्रसन्न होकर चिन्नी बाबू की ओर देखा था, लेकिन उन्हें सन्तोष नहीं हुआ था। वह कुछ और सुनना चाहते थे।

''चिन्नी बाबू देखो तो, हथेली में ख़ून है न?

''हाँ बाबा।''

चिन्नी बाबू ने अपनी हथेली भी फैलायी, पर अपनी हथेली से बाबा की हथेली कमतर लगी। उन्हें लगा अगर बाबा को पूरा दिखाई दिया होगा तो दुःख हुआ होगा। उन्हें अफसोस हुआ कि उन्होंने अपनी हथेली क्यों उलटायी। इसका प्रतिकार करना उन्हें ज़रूरी लगा, इसलिए चट से कहा, ''बाबा, उम्र के लिहाज से लहू कम नहीं है। आप लोगों की तो एक उम्र हुई न! इस उम्र में लहू का पतला होना स्वाभाविक है।''

बाबा चुप रहे। बाबा का यह मौन चिन्नी बाबू को भारी लग रहा था। चुप्पी तोड़ने के लिए वह बेचैन हो उठे, ''बाबा, आपकी उम्र क्या हुई होगी?''

''अट्ठासी। अट्ठासी से कम क्या होगी। ज्यादा ही हुई होगी।''

चिन्नी बाबू चनरैया नदी में निष्क्रिय बैठे रहे। कभी यह नदी उफनती हुई बहती थी। कोसी में बाँध पड़ जाने से यह नदी बरसात में ज़िन्दा होती है और शेष पूरे साल मरी पड़ी रहती है।

चिन्नी बाबू ख़ुद की निष्क्रियता से अजीज आ गये। वह पहली बार किसी को जलाने आये थे। दिन बाहर रहते थे और बाहर रहने वाले कुटुमबीजनों के लिए लाश को रोककर नहीं रखा जाता।

दिन-दहाड़े की बात थी। गवैया बाबा ने अच्छा किया कि सुबह में मरे। कठियारियों (लकड़ी देने वालों) को परेशान नहीं किया। बारह बजे तक तमाशा ख़तम।

लेकिन वह क्यों आये? क्यों इतने लोग कठियारी में आते हैं। कुल अदद तीन-चार जन-मजूर काठ-बाँस चीर-फाड़ रहे हैं और घर के दो आदमी सिर और पाँव की तरफ से लाश को कोंच-कोंच कर जला रहे थे। बहुत निपुण हैं दोनों। लगता है गाँव की सब बारात अटैंड करते हैं।

चिन्नी बाबू को क्षोभ हुआ कि कोई काम क्यों नहीं है। वह बारह बजे तक चनरैया नदी के पेट में चिता को कैसे अगोरते रहेंगे?

उन्हें लगा बैग से ताश ही ले आये होंगे। लेकिन इस विचार से उन्हें डर लगा, जैसे उन्होंने कोई अपराध किया हो। उन्होंने चारों ओर देखा कि किसी ने उनके इस विचार को सुन तो नहीं लिया! मगर किसे ग़रज़ पड़ी है कि ग़ैरों के भटकाव को देखे। और सोचने को देखा भी तो नहीं जा सकता।

हर जगह हर चीज़ ठीक थी। दो-तीन गोलाकार झुंडों के बीच में खैनी और चूना रखे हुए थे और लोग तम्बाकू खाते हुए बातें कर रहे थे।

अचानक चिन्नी बाबू को लगा कि वह अकेले पड़ गये हैं। चनरैयो के दूसरे तट पर उन्होंने एक लड़की को देख, गदराई काली लड़की। वह उसकी ओर देखने लगे। गुलाबी रंग की वाइल साड़ी और नीले रंग का ब्लाउज़। माथे पर साड़ी और छाती पर तेल और धूल सना मैला ब्लाउज़। उसकी बाँहें ब्लाऊज को फाड़कर निकली दिख रही थीं। उन्हें एक कहावत याद आयी, इत्ती-सी छोकरी के कसी-कसी बाँह। फर्स्ट क्लास लड़की है। उसकी काली चमड़ी धूप में चमक रही है। लेकिन एक त्रुटि है। केश बहुत पहले का बँधा हुआ है या बँधा हुआ नहीं है। इसलिए बाल बिखरे हुए हैं। आँखों में काजल अधिक मात्रा में पुता है।

चिन्नी बाबू ने अपने विचारों की अश्लीलता को रोकना चाहा। उन्होंने नज़रें नीची कर लीं।

लेकिन मन उनके वश में नहीं रहा। उन्होंने नज़रें उठायीं। हुम्! लड़की होंठ पर होंठ बिठाये कुछ चूस रही है। गवैया बाबा की चिता मरी हुई चनरैया नदी में धधक रही है। चिरान्ध के मारे दम घुटता है। और यह लड़की नाश्ता उड़ा रही है!

कौन है यह? चिन्नी बाबू याद करने लगे। कौन है? कौन है? कौन है?

उसे उन्होंने कभी देखा नहीं था। किसी टोले पर, किसी घर के आगे, किसी बैल के आगे घास डालते हुए उन्होंने उसे कभी नहीं देखा था।

वैसे वह गाँव में पहचानते ही कितनों को थे? और उसमें भी औरतों को! वह गाँव में रहते भी कब हैं? एक दिन की छुट्टी में आये तो अपने ही घर-आँगन में चक्कर काटते रहते हैं और चले गये तो चले ही गये।

लेकिन यह कौन है? कौन है यह? यह किस रास्ते आयी? गवैया बाबा के साथ कठियारी में तो यह निश्चय ही नहीं आयी है। फिर यह कब आयी? कहाँ से आयी? क्या आसमान से कूदकर आ गयी? चिन्नी बाबू ने फिर उसकी ओर देखा। काजल से पुती आँखें, छितराये बाल, कसी-कसी बाँहें, सीने पर तैल ब्लाउज, मैली सुगठित देह। चिन्नी बाबू ने सोचा गवैया बाबा के उठते धुएँ के बीच ऐसा भूतैला विचार अनुचित है। उन्होंने लोगों के झुंड में घुस जाना चाहा।

''भवेश! अरे भाई! वहाँ उधर तुम लोग क्या बातें कर रहे हो?'' कहते हुए चिन्नी बाबू उसके झुंड की ओर बढ़ गये।

''आप ये बातें नहीं समझ पायेंगे चिन्नी बाबू! गाँव की बातें हैं।''

चिन्नी बाबू जबरन उनकी ओर सरकते गये। सोचा गाँव की बातें जानते हो तो बताओ न कौन है यह मस्ताई लड़की? किसकी बेटी है? यहाँ क्यों आयी है? मगर यह सब पूछकर नंगे हो जाने का डर था और वह नंगा होना नहीं चाहते थे।

''आइये-आइये, बैठिये!'' भवेश घास पर फैले सूखे तिनकों को चुन कर हटाने लगा।

''भवेश, गवैया बाबा की रज़ाई का क्या करोगे?'' एक ने पूछा।

''करूँगा क्या? आग में डाल दो। बाबा की चीज़ बाबा के साथ चली जाएगी।''

''आह! क्यों बर्बाद करोगे ऐसी चीज़ नयी है, भवेश!''

''नयी क्या और पुरानी क्या?''

''भवेश ठीक कहता है,'' चिन्नी बाबू खुद को शामिल करते हुए बोले, ''बुरा क्या कहता है! जो ले जाएगा उसके घर-परिवार को बीमारी की छूत नहीं लगेगी?''

सभी चुप रह गये। भवेश ने इसका जवाब नहीं दिया। वैसे भवेश की इच्छा हुई कि चिन्नी बाबू से कह दे, ''चिन्नी बाबू, गाँव में कपड़ों की छूत से बीमारी नहीं होती।'' लेकिन चिन्नी बाबू का तर्क उसके पक्ष में जाता था, इसलिए वह चुप रह गया। इस बीच गुलाबी साड़ी और नीले ब्लाउज़ वाली लड़की उठकर खड़ी हो गयी। चिन्नी बाबू की नज़र उस पर गयी। मगर वह तुरन्त उस मंडली के लोगों के चेहरों को देखने लगे कि वे देख रहे हैं या नहीं। और कहीं उन लोगों ने उन्हें लड़की को घूरते तो नहीं देखा!

लड़की को तिरछी नज़रों से देखकर सभी लापरवाह दिखने लगे। चिन्नी बाबू को लगा गाँव के लड़कों की इस मंडली को लड़की के प्रति कोई जिज्ञासा नहीं है। क्यों नहीं है? हो सकता है उससे वे परिचित हों। हो सकता है वे सुनियोजित रूप से उसकी उपेक्षा कर रहे हों, या चिन्नी बाबू को चिढ़ाने के लिए ऐसा कर रहे हों। चिन्नी बाबू की उत्सुकता बहुत बढ़ गयी। ट्यूब के फट पड़ने से पहले के तनाव की तरह। कौन है यह?

लाल साड़ी वाली ने खुशामद की, ''दे दीजिये रज़ाई। बहुत देर से बैठी हूँ। दे दीजिये।'' उसकी खुशामद पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। वह लड़की सरककर और पास चली आयी।

''दे दीजिये बाबूजी! बहुत देर से बैठी हूँ।''

''नहीं दूँगा, भागो।'' भवेश ने उसे झिड़का।

''इन्हें कैसे गन्ध लग जाती है? कैसे चट से कठियारी के साथ चली आयी?'' एक बोला।

''आप लोग लेकर क्या करेंगे? दे दीजिये न!''

''नहीं दूँगा। आग में डाल दूँगा।''

''आग में डालकर क्या फायदा होगा बाबूजी! मुझे देंगे तो बहुत दिनों तक ओढ़ूँगी और आसीस दूँगी।''

''ऊँह! जैसे इसी की आसीस के लिए दुबलाया जा रहा हूँ।''

''लड़की हतप्रभ हो गयी।

''कौन है यह?'' चिन्नी बाबू ने मुँह खोला।

''आप नहीं पहचानते? पहचानेंगे कैसे? नवघरिया डोम है। न जाने कहाँ से आकर बस गयी है। कोसी के चले जाने के बाद इस गाँव में पता नहीं कहाँ-कहाँ से कौन-कौन आ रहा है।''

डोमिन है, यह जानकर चिन्नी बाबू को थोड़ी घिन हुई। फिर आश्चर्य हुआ कि समय कितना बदल गया है। बिना जाने कौन कह सकता है कि यह डोमिन है। शहर में वेश-भूषा देखकर कौन किसकी जाति जान सकता है?

भवेश जान रहा था रज़ाई तो फेंकी जाएगी ही। लेकिन जब सब चले जाएँगे तब जिसे लेना हो ले जाए। सामने ले जाते हुए कैसे देखते रहेंगे सब।

''ना बाबू जी, ना। मैं भी इसी गाँव की हूँ। कोसी में मेरे पिता इस गाँव से चले गये थे। हम लोग फिर पुरानी डीह पर बस गये हैं। और ये जजमान मेरे ही पिता के हिस्से में हैं। जजमानी हमारी ही है।'' लड़की की गुलाबी साड़ी लोगों की आँखों में गड़ती रही और उसकी खुशामद सभी के पाँवों पर बिखरती रही।

''किसकी बेटी हो?'' एक प्रौढ़ ने पूछा।

''मुलर की।''

''मुलरा की बेटी हो! सही है, इसका बाप इस गाँव का डीही होम है।''

भावेश मौन हो गया। कमाल है! वैसे ही नहीं अगोर कर बैठी है। यह छुतहरिया। लेकिन भवेश को इच्छा हुई कि अगर वह एक बार चुम्मा दे दे, एक भरपूर चुम्मा, तो वह निर्विरोध उसे रज़ाई ले जाने देगा। मगर यह बात भवेश बोले कैसे?

चनरैया की मृत धारा में चिरान्ध फैल रही है। शत्रुघ्न आग में लाश को उलट-पुलट रहा है। एक जगह बूढ़ों की मंडली तम्बाकू के ढेर को चट करती जा रही है और तम्बाकू के इर्द-गिर्द अनेक बातों से अंकुर फूट रहे हैं।

नवयुवकों की मडली तम्बाकू के साथ कई लिजलिजी चीज़ों को नोंच-खसोट रही है और चिन्नी बाबू व्यर्थ ही उन पर लुब्ध हैं। शिक्षित और परदेसी नवयुवक ग्रामीण समाज का घेघ है।

लाल वाइल वाली काली लड़की चनरैया के तट से नीचे उतरकर नवयुवकों के झुंड से थोड़ा हटकर बैठी हुई है और गवैया बाबा की रज़ाई पर टकटकी लगाये हुए है।

''लड़की, क्या नाम है?'' चिन्नी बाबू पिलपिता होकर बोलते हैं।

लड़की को ऐसा गुलगुला सवाल अच्छा नहीं लगता। सामान्यतः इस तरह वह रसीले प्रश्नों का उत्तर नहीं देती। इस प्रश्न को तिरस्कार की नज़र से देखती हुई वह उठी ओर कमर पर बल देती हुई सिर घुमाकर वहाँ से हट गयी। लेकिन उस की नज़र तो रज़ाई पर थी। कमर लचकाते चले जाना गर्व की बात होती, पर रज़ाई? रज़ाई पाप है। उसने नवयुवक मंडली की ओर देखा। अनेक आँखें उसकी बाँहों पर लुब्ध थीं। एक क्षण के लिए उसे रज़ाई में बिन-बिन करते साँप दिखाई दिये।

भवेश चिन्नी बाबू की ओर देखते हुए एक बार बोला—हुम्।

चिन्नी बाबू तिरस्कृत हो चुके थे। मृत चनरैया नदी में उस लड़की ने, कसी-कसी बाँहों वाली लड़की ने उन्हें लुढ़का दिया था।

चिन्नी बाबू नंगे हो चुके थे। मरी हुई चनरैया नदी में भवेश और भवेश भी मित्र-मंडली नंगे हो चुके थे। उन्हें अपनी ही देह नंगी और घिनौनी लगी और उस पर गुस्सा आया। शरीर के रोएँ खड़े हो गये। शरीर छोटा होने लगा।

लड़की द्वारा किया गया यह तिरस्कार भवेश के गले भी नहीं उतरा। उसने कसकर एक ढेला फेंका जिस से उस लड़की का सिर ख़ून से लथपथ हो जाए, ''अरी, बहुत घमंडी हो। इस घमंड पर रज़ाई ओढ़ोगी तुम!''

लड़की ने नज़र उठायी और भवेश की नज़र पर टिका दी।

''अरी, तुम्हारा नाम पूछा और तुम गूँगी हो गयी। जैसे कि उन्होंने तुम्हारा नथ माँगा हो...कहावत है गोरी औरत गर्व से अन्धी।''

''रजाई दे दीजिये न बाबू जी! नाम जानकर क्या करेंगे। मुलरा की बेटी हूँ।''

''मुलरा की बेटी तो हो, लेकिन कोई नाम तो होगा—जैसे झरकलही, करियाही, लबड़ाही...''

लड़की हँस पड़ी। उसके उजले-उजले दाँतों ने उसकी श्याम कान्ति को ढँक दिया। उजली आँखें और उजले दाँत पूरी चनरैया नदी में एकबारगी फैल गये। वे गवैया बाबा की चिरौन्धती धधकती लाश पर भी फैल गये।

''करियाही नाम नहीं है बाबूजी! नाम है मनता।''

''इसीलिए तो यह घमंडी है। माँ-बाप ने मन्नत माँगी थी, तब पैदा हुई यह। क्यों री मनता?''

मनता ने अपना सिर हिलाया। उस की उजली-उजली आँखों के कोए फैल कर दुगुने हो गये। पूरी चनरैया नदी में उसकी आँखों के कोए भर गये।

''बैठे-बैठे बहुत देर हो गयी। अब दे दीजिए न बाबूजी! कितना बिठायेंगे?''

मनता ने अँगड़ाई ली। दोनों हाथ गरदन के पीछे जोड़कर कड़कड़ायी। साड़ी का आँचल सरक गया। छितराये बालों वाला सिर नंगा हो गया। नीले रंग का ब्लाउज़ पूरा नंगा हो गया। इस दुर्घटना का लाभ उठाने के लिए सबकी आँखें उसके ब्लाउज़ पर फिंक गयीं। ब्लाउज़ का जो हिस्सा चीकट था, सबकी आँखें उसी से चिपक गयीं।

इस दुर्घटना से मनता हड़बड़ा उठी। खुला हुआ मुँह झट से बन्द हो गया। दोनों आँखों के उजले-उजले कोए में पानी भर गया। वह डरी नहीं। उसने गर्व से अपने आँचल को समेटा और उसके दोनों छोर कमर में खोंस लिये।

चनरैया की उस मृत नदी में थोड़ी देर के लिए कुहरा छा गया और उसने पूस के बीमार सूर्य को ढँक लिया। हर तरफ हर कोई गूँगा हो गया। गवैया बाबा का शून्य में विलीन होता धुआँ गूँगा हो गया। चनरैया की सारी दूब गूँगी हो गयी।

''सतरूहन, कितनी देर है? ख़तम करो न गवैया काका को।'' अनिरुद्ध बाबू ने गूँगी हो गयी हवा को, रुद्ध हवा को ज़ंजीरों से मुक्त किया।

मनता ने उनकी ओर देखा।

''ज़रा-सी देर है। ज़रा मुँह फोड़ना बाकी है।''

''फोड़ दो न यार! क्या देखते हो। और चलो न! फिर सबको नहाना भी पड़ेगा। चिता को लकड़ियों से बोझ दो। शाम तक अपने-आप खतम हो जाएगा।''

''होने दीजिए न। एक कायदे का होगा, तब न!''

अनिरुद्ध बाबू ने सोखिया को पुकारा, ''सोखिया रे! पंचकठिया तोड़ो। भवेश, कितने लोग हैं? नौकर को जोड़कर। उसका पाँच गुना पंचकठिया तुड़वाओ। गिन लेना। अब उसी का काम पड़ेगा।''

अनिरुद्ध बाबू ने एक से कहा, ''इस तरह छूछा क्यों करते हो, भाई! चलते-चलते चलाओ न एक बार खैनी। ख़ूब पूरा करके कड़ा जूम दो। उसी की गरमी पर सब नहाकर चल देंगे।''

अनिरुद्ध बाबू देर तक हवा में अपना खड़ाऊँ खटखटाते रहे। मनता ने उन से कहा, ''बाबा, अब दिला दीजिये न।'' वह सरककर रज़ाई की तरफ आने लगी।

''अरे, अरे! उधर ही रहो, मन्नत वाली!'' भवेश ने उसके और रज़ाई के बीच में दीवार खड़ी कर दी।

चनरैया नदी के पूरब-दक्षिण कोने में दो आदमी घुसे। एक तेईस-चौबीस साल का युवक और दूसरा पैंतालीस का अधेड़। उन दोनों को मनता ने देखा। और किसी ने नहीं देखा। मनता को जैसे बिच्छू ने डंक मार दिया हो। उसका शरीर सुन्न पड़ गया। देर तक बिठाकर इन मर्दों ने उसका सत्यानाश कर दिया।

वह भवेश की दीवार को लाँघ गयी। वह चील बन गयी। एक ही झपट्टे में

उस ने रज़ाई उठा ली और दीवार को फलाँगती हुई चनरैया की नदी में खड़ी हो गयी। मनता एकबारगी आग की लपट बन गयी और नाचने लगी। मनता चनरैया नदी से ऊपर आ गयी। वह बवंडर बन गयी। वह बादल का काला टुकड़ा बन गयी। वह हवा और तिरती चनरैया के तट से ऊपर आ गयी।

अनिरुद्ध बाबू, चिन्नी बाबू और भवेश मिट्टी की मूरत बने टुकुर-टुकुर ताकते रह गये। हाथ में खोरनाठी (आग में किसी चीज़ को उलटने-पलटने वाली लकड़ी) लिये हुए शत्रुघ्न भीम की मूर्ति की तरह सुहावना लग रहा था।

एक काला कौआ आया और सबके हाथ की रोटी के टुकड़े को झपट लिया ओर किसी के फैट-फैट् हा-हा कहने से पहले ही आकाश में गुम हो गया।

चनरैया नदी में घुसे चुवक और अन्धड़ कुत्ते की तरह छूटे। मनता बिल्ली बनी भागी। दो कुत्ते उसका पीछा करते दौड़े।

मनता उड़ती रही। दोनों कुत्ते उस के पास आते गये।

चिन्नी बाबू और भवेश और सभी मूरत से तमाशबीन बन गये। सब देखने लगे यह क्या हो गया? ये दोनों कहाँ से टपक पड़े और क्यों मनता पर टूट पड़े। वह युवक तुरन्त मनता पर चढ़ बैठा और अधेड़ उसकी रज़ाई छीनने लगा। चिन्नी बाबू और भवेश के अँगूठे में ईंट की ठोकर लगी और नाखून अलग हो गया।

''भवेश, यह क्या हुआ?'' चिन्नी बाबू को पसीना छूट आया।

''मनता की रज़ाई छीन लेगा, चिन्नी बाबू!''

''कौन है ये?''

''और कौन, डोम ही होंगे। एक है मनता का चाचा और दूसरा उसका चचेरा भाई। ये इसी गाँव के डोम हैं। हमेशा से इसी गाँव में हैं और मूलरा के हिस्सेदार हैं।''

''अरे, अरे! लड़की को दबोच लिया। सिर-विर फोड़ देगा।''

''चलिये, देखें! बचा दें।'' भवेश लपककर आगे बढ़ा। चिन्नी बाबू घिसटते हुए उसके पीछे चले। और कई लोग एक-एक कर सरकने लगे।

''सुनरा, सुनरा, छोड़ दो। रुको।'' भवेश ने भाला फेंका और सुनरा डोम की पीठ में चुभो दिया।

मनता रज़ाई के एक छोर को पकड़े पेट के बल लेटी मिट्टी से चिपकी थी। उसके छितराये बाल खुला झाड़ू बन गये। उसकी लाल वाइल साड़ी पुआल बन गयी। उसके नीचे ब्लाउज़ में उसका काला चमकता बदन बिखर गया। उसकी नाक साइकिल में हवा भरने वाला पम्प बन गयी।

भवेश पहले पहुँचा। चिन्नी बाबू दो बल्ला पीछे रेंगते हुए आ रहे थे। चिन्नी बाबू को दो आदमी अपने बीच में लिये बढ़ते आ रहे थे।

''सुनरा, क्या बात है?'' भवेश ने उसे अपनी चपेट में लिया।

"रज़ाई मेरी होगी बाबू!"

मनता रज़ाई का छोर पकड़े खड़ी हो गयी। वाइल की पुआल को घास पर से उठाकर उसने अपने बदन को झाड़ा। उसके ब्लाउज़ के बटन खुल गये थे। मनता के खड़े होते ही भवेश और दूसरे लोग उसके खुले बटन को देखने लगे और पुआल की छौनी हो जाने के बाद उन्होंने अपनी निगाहें उस तरह हटा लीं जैसे उन की आँखें विश्वामित्र की आँखें हों।

"कैसे? बाबूजी, आपका घर और आपके पट्टीदारों का घर मेरे पिता की जजमानी है।"

"बड़ी आयी है, जजमानी वाली! बाबू, यह झूठ बोल रही है। हमेशा से हम लोग ही इस घर की ताबेदारी करते आये हैं।"

"सो जो ले लिया, सो ले लिया। हिस्सा है मेरे बाप का और लेंगे ये!" मनता की आँखों सुनरा की ओर उठीं तो बाघ की आँखें हो गयीं और भवेश की ओर उठीं तो पालतू कुत्ते की आँखें हो गयीं।

मनता ताकतवर हो गयी। उसने एक झटका दिया और आधी रजाई सुनरा के बेटे से छुड़ा ली। सुनरा के बेटे ने भी एक झटका दिया और छीना-झपटी शुरू हो गयी।

"तुम दोनों रज़ाई को छोड़ो और यहाँ रखो।" दोनों के हाथों में रज़ाई ढीली पढ़ गयी।

"रखे, जो कहता हूँ, वह करो।" भवेश ने दोनों की नाम में तिनके का टुकड़ा घुसेड़ा। रज़ाई नीचे लटक गयी। गवैया बाबा की नयी चमचमाती रज़ाई पर मिट्टी के दाग पड़ गये।

"सोखिया, रज़ाई ले चलो और चिता में डाल दो।" भवेश का चेहरा कठोर हो गया।

सुनरा बोला, "आग में क्यों देंगे, बाबू? उतारन-पुतारन पर डोम का हक होता है।"

"ना, ना, आग में मत दो।" चिन्नी बाबू ने कहा।

"तब आप ही सलटाइयें, चिन्नी बाबू!" भवेश का चेहरा तनकर फट पड़ा, "आप ही सलटाइये। यहाँ ये ख़ून-ख़राबा करेंगे। दीजियेगा गवाही?"

चिन्नी बाबू का चेहरा ज़ख़्मी हो गया।

"हाँ, हाँ, सलटेगा क्यों नहीं?"

भवेश का चेहरा केले के पत्ते की तरह फटकर झालर बन गया और झरझराने लगा।

"क्या बात है, सुन्नर? यह लड़की तुम्हारी कौन है?"

"मेरी ही भतीजी है।"

"अच्छा! भतीजी है। और यह कौन है?"

"यह मेरा बेटा है।"

''अनिरुद्ध बाबू का कहना है, अभी वह बैठे हुए हैं और गवाह हैं कि यह रज़ाई मुलर की होगी। मूलर की बेटी से तुम क्यों छीनते हो।

''मूलरा की कैसे हुई बाबू? मूलरा तो इस गाँव से कब का भाग गया।''

''भाग कैसे गया? देखते नहीं, मुलरा की बेटी के हाथ में रज़ाई है। इस तरह ज़ोर-ज़बरदस्ती तो मत करो।''

''कोसी अभी आयी ही थी कि मूलरा भाग गया। यह घर उसी के हिस्से में था, कहाँ कहता हूँ नहीं था। मगर बाबू, बीसियों साल से मैं ही पूरे गाँव की ख़िदमत करता आ रहा हूँ, डाल-दौरा दिया, मरी-हरी सम्हाला। उन दिनों कहाँ था मुलरा? उन दिनों उसके हिस्से का निबाह किसने किया?''

''उस से क्या? जब वह नहीं था, तब तुमने उसका हिस्सा लिया। अब तो वो आ गये। चीज़ तो मुलरा की है।''

''उस का कैसे हुआ बाबू, बीसियों साल से मैं ने जो सम्भाल रखा है, तो मेरा कैसे नहीं हुआ?''

''तुम समझते नहीं हो। जिसका जो खेत था और कोसी के कारण भाग गया था और अब लौटा है तो फिर कब्ज़ा कर लिया कि नहीं!''

''कास-पटेर के जंगल पर क़ब्ज़ा कर लिया, बाबू! उसको उजाड़ सकेगा जो दूसरे की जमीन पर बस गया है?''

''उजाड़ देगा।''

''इस्स!'' सुनरा चुप हो गया और पत्थर के टुकड़े की चट्टान बन गया। भवेश को अच्छा लगा, सुनरा ने चिन्नी बाबू को भले ही चुप करा दिया। कोट पहनकर बड़ा अँग्रेजी झाड़ रहे थे। चिन्नी बाबू गुमसुम पड़ गये। अनिरुद्ध बाबू ने वहीं से पुकारा, ''किस झमेले में पड़े हो, भवेश? आते जाओ, पंचकठिया फेंको। झूठमूठ देर करते हो तुम लोग।''

एक-आध तमाशबीन चनरैया नदी की ओर सरके। भवेश चिन्नी बाबू के लिए रुका रहा और उनकी आँखों में आँखें डाले रहा।

चिन्नी बाबू ने कहा, ''सुन्नर, मूलरा की बेटी ने पहले रज़ाई ली। लेने दो और निपटारा न हो तो गाँव में इसके बाप से कर लेना। इस लड़की से मत उलझो।''

''जाइये, जाइये बाबू, क्यों इस झमेले में पड़ते हैं! खेत पर जिसका कब्जा होता है, पंच भी उसी के पक्ष में फैसला देते हैं। कब्जा कैसे छोड़ दूँगा?''

''इह! बड़ा आया खेत वाला!'' भवेश ने कहा और दो-तीन लोग खिलखिला पड़े।

चिन्नी बाबू हँस नहीं सके। चुप रह गये। सुनरा तो कहता है—बसी हुई जमीन पर किसका अधिकार होगा—लो बसा है उसका? या जिसकी ज़मीन है, उसका? बड़ा उलझा हुआ प्रश्न है। इसका निपटारा कौन करेगा? कौन?

सुनरा का बेटा मूरत से कुत्ता बन गया। उसने रज़ाई झपट ली और बाप के हाथों में फेंक दी। सुनरा चल पड़ा।

मनता ने सुनरा का पीछा किया। बौराई बिल्ली की बच्ची एक कुत्ते के पीछे गिड़गिड़ाती विदा हुई।

सुनरा का बेटा और अधिक क्रुद्ध कुत्ता बन गया। उसने मनता को पकड़ लिया।

मनता मिट्टी पर चित पड़ गयी और मुक्के चलाने लगी। उसके मुँह से गालियों का लावा फट्-फट् फूटकर बिखरने लगा।

सुनरा का बेटा उसकी छाती पर बैठा रहा और उसके पीछे मनता के दोनों नंगे, काले और धूप में चमकते पाँव उठते-गिरते रहे।

अनिरुद्ध बाबू ने दूर से ढेला फेंका, 'चिन्नी बाबू, आइये, फेंकिये पंचकठिया।''

जीवकान्त की टिप्पणियाँ

कविता पर बात करते हुए

(पहल-सम्मान 2000 के मौके पर दिया गया वक्तव्य)

कुएँ को उड़ाहने का काम

नदियों में अमृत बहता है। हम उसमें उच्छिष्ट डालते हैं। अमृत को विष में परिवर्तित करते हैं। देश की अधिकांश नदियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। उनके किनारे शहर बसाये गये। उनमें कारखानों की गन्दी नालियाँ बहकर गिरती हैं। वे अपवित्र हो गयी हैं। उनका अमृतोपम जल नहाने के लायक नहीं रह गया है।

कविताएँ नदियों के समान होती हैं। उनमें जीवन प्रवाहित होता है। उनमें अमृत होता है, जो जीवन को समृद्ध कर सकता है। इधर के वर्षों में कविताओं में हम कचरा भी मिलाते गये हैं।

गाँवों में कुएँ होते थे। मेष संक्रान्ति के दिन सामूहिक आयोजन होता था। लोग जुटते थे। कुएँ की सफाई करते थे। गाद निकालते थे। बाहर निकली कीचड़ से खेलते थे। इसे धुरखेल कहते थे। गाद निकाल देने के बाद कुएँ में पानी छूटता था, निर्मल होता था, और फिर साल-भर लोगों को पीने का साफ पानी मिलता था।

इसे कहते थे उड़ाहना। कुएँ का उड़ाहना। प्रायः यह शब्द उद्दहन से बना था। मिट्टी का नया बर्तन आग पर चढ़ाते थे। उसे भी उड़ाहना ही कहते थे।

विषय की तलाश के दिन

मैं छोटा था तो लिखना चाहता था। कविता लिखना चाहता था। स्कूल के दिनों में चाहा कि कविताएँ न लिखूँ। परन्तु पढ़ता था। नौकरी में आया, तो लिखने के लिए मन बनाया।

चाहता था कुछ लिखूँ। रोज-रोज लिखूँ। रोज लिख पाना संभव नहीं हो पाता। अधिकतर यह होता है लिखने के लिए बात नहीं मिलती। फिर कभी कोई बात मिलती है।

शुरू में असहमति की कविता लिखता था। कभी गुस्से में होता था। गुस्से में लिखते वक्त गाल की मांस-पेशियाँ फड़फड़ाने लगती थीं, कनपटी गर्म हो जाती थी।

गुस्से में लिखना अनेक वर्षों के बाद सम्भव नहीं हुआ। लगता था कुछ भी लिखूँगा, तो वह ताजा नहीं होगा। वह पहले भी अनेक बार लिखे गये के समान होगा।

सोचता था, इस दुहराहट से बच निकलना चाहिए। बच निकलने के लिए अपने जीवन के चारों ओर देखने लगा। जीवन में हिंसा थी, तो स्नेह और करुणा भी बची थी। झूठे लोग थे, वे कभी-कभी झूठ के अलावा भी कुछ बोल लेते थे। जीवन में गुस्सा था, तो कहीं-कहीं मेल-जोल बढ़ाने के अवसर भी आते थे।

चारों तरफ जीवन में दुःख और निराशा थी। कभी-कभी छोटे-छोटे सुख भोगते हुए लोग दिख जाते थे। विद्यापति के पदों में विरह-विछोह आता है, कवि नायिका से धीरज धारण करने कहता है। ऐसा कहना नया लगा, अनूठा लगा और कहीं अन्दर तक छू गया।

लोगों के अलावा पशु-पक्षी दिखाई दिये। पक्षियों के बारे में मेरी अनेक कविताएँ हैं। उनके जीवन के सुख-दुःख मुझे दिखाई पड़े। मुझे सहसा विचार आया कि पक्षियों के जीवन-संघर्ष से हमारा जीवन भी बहुत मिलता है। पक्षियों पर बात करो, तो वह आदमियों पर बात लगती है।

मैंने पेड़ों को देखना शुरू किया। मुझे लगा, वे भी सुख-दुःख को झेलते हैं। मैंने उनके बारे में थोड़ा लिखा है। पेड़ों की बात करता हूँ, तो ऐसा नहीं लगता कि वह बात सिर्फ पेड़ों के बारे में है। उनके संकट की बात हमारे समाज के बारे में भी एक दृष्टि देती है।

फिर कविता में सारी पृथ्वी आने लगी। नदियाँ, बादल, वायुमंडल की नमी, सूर्य और तारे कविता में सुख-दुःख कहने के लिए आने लगे।

मुझे लगा, जीवन का उत्स एक ही चीज में है, वह अनुराग है। प्रेम विद्यापति की कविताओं में प्रचुरता से आया है। रवीन्द्रनाथ की कविता-दृष्टि में प्रेम एक मुख्य प्रेरक है।

मैंने वर्षा के जल से प्रेम किया है। मैंने पृथ्वी और सूर्य को प्रेम से निहारा है।

मेरी कविता है—'रसिया' अर्थात् रसिक। वह इस प्रकार है—

प्रकृति बहुत रसिया अछि
ओकरा रंगये अबैत छै अशोकक पात कें
पहिने देने छलै लाल
फेर देलक पीयर रंग...

इसे हिन्दी में इस तरह कह सकेंगे—

प्रकृति बहुत रसिया है
अशोक के पत्तों को रँगना आता है उसे
पहले चढ़ाया लाल रंग

फिर उस पर पीला चढ़ाया
जेठ आते-आते चढ़ने लगता है हरा रंग
भादों-आसिन में होगा यह हरा-गाढ़ा रंग
समय लेती है प्रकृति
रसिया उकताता नहीं है।
अशोक के पत्तों में झालरें लगाते हैं कोरों पर
कितना ज्यादा पत्ता खर्च होता है मगजी के प्रसार में
कभी खर्च की परवा नहीं करेगी प्रकृति
वो रसिया है।

गाँव में किसी साँझ को नौ-दस साल की बच्ची को साँझबाती देते देखा। फिर देखा वहाँ पीपल का नया पौधा रोपा है। नये पौधे के बड़े-बड़े पत्ते हैं। मुझे लगा कि पृथ्वी अभी बची हुई है। बच्ची माथा टेकेगी उतनी पृथ्वी बची हुई है। उसे इस बच्ची ने बचाया है, बचाकर रख लिया है—

ई कर्नाटरबी
लेसने धुपकाठी
गोर लगैत अछि ग्राम-देवता क पिण्डा कें!
सल्हेस के घोड़ा कें।
एकरा के पठबैत छैक साँझ मे ऐहि ठाम,
एकरा हाथ में के धरा देत छैक छैक धुपकाठी,

अब इसे भाषान्तर में देखते हैं—

यह मुन्नी
जलाके अगरबत्ती
माथा टेकती है ग्राम-देवता के पिंडे को
सल्हेस के घोड़े को
साँझ को इसे यहाँ कौन ले आता है?
इसके हाथ में अगरबत्ती पकड़ाता है कौन?
पुराना पीपल सूख गया
उसकी जगह नये पीपल के बड़े-बड़े पत्ते
हरे-कंच दिखाई देते हैं।
इस नये पौधे को कौन रोप जाता है?
धरती में इस पेड़ के लिए
थोड़ी-सी जगह बची है।
इस मुनियाँ के लिए बचा हुआ है।
थाड़ा ऊँचा मिट्टी का पिंडा

थोड़ी-सी अगरबत्तियाँ
घुटने मोड़के मत्था टेकने की धरती बची है
बचा है थोड़ा पवित्र देवस्थान
पृथ्वी की आयु को बचाती है।
यह मुन्नी
सूरज ढलने के बाद
प्राणों में भरके आनन्द वह आ जाती है।
हाथ में सुलगा के ले आती है।
अगरबत्ती।

अब ऐसा है कि मेरा प्रकृति से संवाद जुड़ने लगा है। मुझे लिखने के लिए कभी-कभी एक बात मिल जाती है। मैं प्रसन्न होता हूँ मैं शब्दों में उलझने लगता हूँ। बढ़ाने-घटाने के इस काम में तृप्ति मिलती है। इसके अलावा कुछ भी करने का मन नहीं होता है।

अभी इधर हवा को सम्बोधन किया है, उसका एक अंश इस तरह है—

चिड़िया को अपनी तलहथी का देते हो आधार तुम्हारी बाँह पर खिलखिलाता भखराल ओड़हुल फूल मैं तुम्हारे स्कन्ध पर टँगा हुआ अनादि काल से आँखें मूँद भागता होता हूँ।

मैं और बनैला सूअर
भाग-भाग के होते हैं कृतार्थ
ओ मरुत्।

नरेश का कवि

वरिष्ठ कवि नरेश सक्सेना के कवि ने नयी-से-नयी संवेदना को उठाया है और उसे इस लायक बनाया है कि कविता में बदली हुई संवेदनाओं की ताजगी को उल्लास के साथ चिह्नित किया जा सके।

प्रगति के लिए प्रकृति का शोषण हो रहा है। प्रकृति मार खा रही है, आदमी इसे समझकर भी अनजान बने रहना चाहता है। यह उदासीनता विध्वंसकारी है। प्रकृति जीवन का स्रोत है, उसको बिना बचाये पृथ्वी पर मनुष्य का जीवन बचाना सम्भव नहीं है।

नरेश का कवि आशावादी है। जीवन को बचाने के लिए शिल्प और तकनीकी के जबड़ों से निकल आने के लिए लोहे की रेंलिंग हवा से थोड़ी नमी और थोड़ी आक्सीजन छीन लेती है। यह विश्वास है जो प्रकृति और मनुष्य के जीवन के लिए जरूरी है।

देश-विदेश के ज्ञात-अज्ञात अनेकों कवि अपने-अपने स्तर से कविता में नयी

संवेदनाओं की आहट ले आये हैं। नरेश भी उन अग्रणी कवियों में एक हैं। धीरे-धीरे कोई नया अंकुर फूट रहा है। स्वागत है। हार्दिक स्वागत है।

पृथ्वी पर बची है माथा टेकने की जगह

इस शताब्दी के अन्तिम दशक का आरम्भ हो रहा था। मेरी कविता ने ठीक इसी समय करवट बदली। अपना आसन और तेवर बदला।

वह दिन मुझे याद है। बाबू बरही (मधुबनी जिले का एक ठेठ देहात) के खेतों के बीच एक भीड़ भरी बस धीरे-धीरे जा रही थी। मैं बस में बैठा हुआ जीवन और सृष्टि के भविष्य के बारे में सम्भवतः सोचता जाता था। गर्मियों में भीड़ भरी बसों में बैठा हुआ आदमी नरक की गर्मी और अगल-बगल बैठे लोगों के अकारण कोप और घृणा को जीता रहता है। मुझे लगता था, अब कोई भविष्य नहीं बचा है। (ऐसा अभी भी लगता है)। दुनिया जहरीली गैस से भरे एक छोटे कमरे में ठूँसकर बन्द कर दी गयी है, ऐसा लगता था। सहसा खिड़की से बाहर किसान दिखाई दिया। पहली बरखा के बाद जमीन को प्यार से सहलाता हुआ किसान। हल में जुते बैलों से प्यार से, टिटकारी से, बोलता हुआ किसान। अत्यन्त कोमलता से जमीन की कोख में बीज डालता हुआ किसान। यह सब देखना मुझे बदल गया। मेरी कविता को बदल गया। मेरी कविता को नया विषय दे गया। मैं पिछले दस-पन्द्रह वर्षों से जीवन और जीवन के सृजन के क्षणों को अपनी कविता में समेटता हुआ अघाता नहीं हूँ।

धरती एखनो बीज लेल
अपन कोखि खोलने अछि
आ किसान एखनो नीक बीज बीछि कए
जोगओने अछि खेत लेल।

(धरती ने बीज के लिए अब भी कोख खोले हुए है। किसान अभी भी अच्छे बीज चुनता है और खेत के लिए सँजोकर रखता है।)

इस कविता का हिन्दी में और फिर पंजाबी में अनुवाद हुआ। मुझे लगा कि जहरीली गैस के इस छोटे कमरे (चैम्बर) में अभी भी लोग उल्लसित हैं। वे रहेंगे। धरती पर आखरी दिन तक वे इस उल्लास को भोगेंगे। यही उल्लास वह सब कुछ बचाकर रखेगा जिसके लिए पृथ्वी पर हर समय हजारों लोग प्रेम और सृजन की कविता लिखकर सन्तुष्टि का अनुभव करते हैं।

बीसवीं शताब्दी में पूरे वर्ष युद्ध का उन्माद बढ़ाने में बीत गये। घृणा और प्रतिहिंसा की राजनीति घरों में रोप दी गयी। हमारे पास बिगाड़ने के लिए बहुत चीजें

दिखाई देती थीं, बनाने के लिए कुछ नहीं बचा था। लगता था युद्धोन्माद की इस शती में जीवन ठहर गया था। तब मैंने अनुभव किया कि जीवन लगातार ओट में चल रहा था। कविता के विषय के रूप में उसे आसन से उतार दिया गया था। मुझे लगा कि कविता को अपने उस आसन पर बिठाने का समय आ गया है। जहाँ-जहाँ जीवन है, ठीक वहीं-वहीं कविता रहेगी। उन्हीं दिनों एक छोटी कविता में मैंने लिखा था–

जीवन मन्द भए जाइछ रातिमे
भोरू का इजोत मे
जीवन झर-झर बहैत अछि
गंगा-धार
रातिम स्थगित नहि होइछ
जीवन

(जीवन रात में धीमा हो जाता है। भोर के प्रकाश में जीवन झर-झर बहता है, गंगा की धारा। रात में स्थगित नहीं होता है जीवन।)

इधर के अनेक वर्षों में जीवन में मुझे उल्लास के क्षण दिखाई दिये हैं। मैंने अपनी सैकड़ों कविताओं में इस तृष्णा को अपनी वासना के साथ अंकित किया है। माँ बार-बार आती है। गंगा आती है। पीपल का पूजनीय पेड़ आता है। धूप-बत्ती आती है। पानी की शुद्धता और नदियों को बचाने की बात आती है। पेड़ों, चिड़ियों, फूलों का संसार आता है। जीवन अभी भी हमें आनन्द और प्रेम का उन्माद प्रदान कर सकता है।

विचारों के अतिरेक ने हमें ऐसे मुहाने पर ला पटका है जहाँ हमारे बचाने और सँजोकर रखने के लिए कुछ भी नहीं छोड़ा है। अगर हम जीयेंगे, तो हमें प्यार करने के लिए और पोसने के लिए कोई आदमी, कोई पशु, जरूर चाहिए–

अनरुध धार नहि टपैत अछि
जेना तीनू लोक ओकरा लेल
होइक ओकर खोपड़ि
आ ओकर घरैतनी आ ओकर चिल्का
आ खुट्टा मे बान्हल बच्छा

(अनुरुध नदी नहीं लाँघता है। उसके तीनों लोक हैं–उसकी झोंपड़ी, पत्नी, बच्चा और खूँटे से बँधा एक बाछा।)

फिर मुझे लगा कि मैं भारत की आत्मा की ओर, भारत के गाँवों की ओर, गाँवों में बसे सीधे और अन्धविश्वास की तरह पशुओं की और वृक्षों को पूजते हुए

लोगों तक आ पहुँचा हूँ, जहाँ भविष्य और आशा की बात करना कोई चालू फैशन नहीं है। भविष्य जहाँ त्वचा और रक्त की तरह अविच्छेद्य है—

धरती के एहि गाछ लेल
बचल अछि थोड़बा जगह
एति ननकिरवी लेल बचल अछि
थोड़ेक ऊँच माटिक पिंडा
थोड़ेक धुपकाठी
ठेहुन मोड़ि माथ कै सटयवा लेल माटि मे
वचल अछि थोड़ेक देवस्थान

(धरती में इस पेड़ के लिए थोड़ी जगह बची हुई है। इस लड़की के लिए बचा है मिट्टी का पिंडा थोड़ा-सा। धूप काठी भी थोड़ी बची है। माथा टेकने के लिए धरती पर थोड़ा देवस्थान भी बचा हुआ है।)

साधारण का अंगीकार

(साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त करने के उपरान्त
लेखक-सम्मेलन में दिया गया वक्तव्य)

प्रिय बन्धुओ, यहाँ से मैं अपने पिछले दिनों को पकड़ने की कोशिश करता हूँ। उलटकर देखता हूँ।

देश के जिस भू-भाग में मेरा जन्म हुआ, वहाँ छोटी-बड़ी नदियाँ बहती हैं। वे बाढ़ लाती थीं। गाँवों को डुबोती थीं। ऐसे गाँवों में काग़ज़ किताबें और दूसरी महत्त्वपूर्ण चीज़ों को प्लावन से बचाकर रखना कठिन था। नदियाँ स्वेच्छाचारी थीं। प्रत्येक साल बाढ़ के साथ बहाव की दिशा और जगह वे बदल डालती थीं। खेती का काम हमेशा अनिश्चित होता था। आबादी के अधिकांश को गरीबी और अशिक्षा में जीना पड़ता था।

यद्यपि नदियों के दोनों किनारे मिट्टी के बाँध खड़े कर दिए गये हैं, परिस्थितियाँ अभी भी अनुकूल नहीं हैं। बाढ़ आती हैं। वृष्टि बहुत होती हैं हिमालय के जंगल उजाड़ दिए गये हैं। लगातार बरखा की हालत में हिमालय क्षेत्र का वर्षा जल हा-हाकार करता हुआ नीचे गिरता है। वह गंगा में मिलता है और गंगा में बाढ़ लाने के साथ बंगाल की खाड़ी की ओर भागता है। इस बीच के भू-भाग के लिए यह पानी विनाश लेकर आता है और एक बड़े इलाके को धोता-पोंछता चला जाता है।

छोटा लड़का था, नानी के गाँव से आता था। रास्ते का अधिकांश पैदल चलकर

आता था। सेठ की माटी-धुली पानीवाली बाढ़ को लाँघकर आते हुए मेरे बाल-मन में बाढ़ के पानी का आतंक समा गया था। आज भी वर्षा ऋतु के नक्षत्रों में सतहिया के वर्षा के दिनों में यह दवा हुआ भय जाग उठता है।

अपने बचपन के दिनों को याद करता हूँ तो गाँव के अँधेरे में डूबी पहली साँझ का घोर अन्धकार अब भी दिखाई देता है। घरों के कोनों में रेंड़ी तेल के माटी के दिए जलाते थे। साँस की हवासे भी उनकी लौ काँप उठती हैं गाँव के एक-आध बैठके में ही शायद लालटेन की रोशनी चमकती थी।

उस स्मृति में दिन के अपराह्न की एक-आधसुखद याद बची है। हमारे यहाँ बैठकें पर दोपहर के भोजनोपरान्त लोग जुटते थे और वे ''ट्वेंटी एट'' खेत के लिए ताश फेंटते थे। कभी दूसरे प्रकार के सज्जन आए, तो तुलसी कृत रामायण निकालते थे और उसका वाचन करते थे। उसका अर्थ बताते थे। बढ़-चढ़कर नया और विशिष्ट अर्थ बताते थे। अर्थों का काट-कूट चलता था। शब्दों के अनेक रंग दिखाई देते थे। उनकी चमक मेरे बाल-मन को मोहित करती थी। ऐसी बात मैंने ''तकैत अछि चिड़ै'' में अपने वक्तव्य में कही है।

गाँव में विजयादशमी में मूर्तियाँ बनाते थे। इस अवसर पर नाटक खेलते थे। छोटा था, नाटक देखने जाता था।

ब्याह में औरतें रात-रात भर गीत गाती थीं। साल के अनेक महीनों में नवविवाहित कन्याएँ कोई उत्सव करती थीं और उसमें भी औरतें गाती थीं। गीतों के अन्त में कवि विद्यापति का नमा भणिता में आता था।

टोले में एक बूढ़ा पण्डित होता था। वह वांग्ला रामायण की पंक्तियाँ सस्वर गाता था। जाड़े की रातों के आखिरी पहर में उसका वह वाचन आकर्षित करता था। उसके शब्दों से जूझता था और उनका अर्थ पाकर बड़ा खुश होता था।

हमारे माता-पिता निरक्षर थे। घर में, और इलाके में दूर-दूर तक कोई पुस्तकालय नहीं था।

गाँव में एक प्राइमरी स्कूल था, जहाँ लोअर तक की पढ़ाई होती थी। ऊपर और मिडिल की पढ़ाई के लिए दूसरे गाँव जाना पड़ता था। वाद में हमारे गाँव में एक हाईस्कूल खुला। इसके कुछ पहले एक छोटा पुस्तकालय भी खुला। इससे कल्याण हुआ। यह बात अलग है कि ये दोनों पुस्तकालय छोटे और साधन-हीन थे।

लोग अकाल मृत्यु से मरते थे। हमारे जन्म से पहले ही हमारे दादा-दादी मर चुके थे। उनका स्नेह नहीं मिला। मिडिल में पढ़ते थे, तो पिता का देहान्त हुआ।

स्कूल जाने में बाधाएँ थीं। मलेरिया और टाइफाइड बुखारों से मैं अनेक बार लम्बी-लम्बी अवधि के लिए बीमार होता था। बाधाओं के कारण हम अपनी पढ़ाई बीच में छोड़कर स्कूल में नौकरी करने के लिए बाध्य हुए। उस समय थोड़े लोग

थे जो बी.ए. और एम.ए. की पढ़ाई पूरी करते थे। मैट्रिक या आई.ए. के बाद लड़कों का नौकरी पकड़ना आश्चर्य-जनक नहीं था।

प्राथमिक पाठशाला में पढ़ने के दिन थे। हम कविता की पाँती जोड़ने की कोशिश करते थे। पाठ्य पुस्तक के कवियों की पंक्तियों और उनके शब्दों से प्रेरित होते थे। जैसा अनेक नौसिखुए करते हैं, हम भी उन कवियों के छन्द और शब्द उठाते थे।

पहली प्रकाशित रचना हिन्दी में थी और पटने के एक लोकप्रिय दैनिक में थी। वह कविता थी और छन्द में लिखी गयी थी। वे हाईस्कूल में पढ़ने के दिन थे। स्कूल से एक पत्रिका निकालने के प्रयत्न में हम सफल हुए थे, उसमें मेरी पहली मैथिली कविता छपी थी और वह छन्द-हीन थी। तब तिरपन-चौअन इस्वी चल रही थी।

मधुबनी के एकमात्र कॉलेज में पढ़ने के दिनों की भी एक स्मृति है। स्व. अरुण कुमार दत्त प्रिंसिपल हुआ करते थे। वे 'कॉलेज उत्सव सप्ताह' में खेलों और वाग्वर्द्धिनी प्रतियोगिताओं का आयोजन करते थे। एक ऐसे उत्सव में मुझे अनेक पुरस्कार मिले थे, जिनमें एक मैथिली कविता में समस्या पूर्ति के लिए दिया गया था।

इंटर पास करके मैं नौकरी में लगा था और इसके सात बरस बाद मैंने स्वतंत्र रूप से बी.ए. की परीक्षा पास की थी। उसके बाद एक महत्त्वपूर्ण निर्णय यह लिया कि उसके बाद में लिखने का भी काम करूँगा। उसमें यह निर्णय और जुड़ गया कि रोज लिखा करूँगा और मातृभाषा में ही लिखा करूँगा।

कवि पात्री-नागार्जुन का एक लेख कभी पढ़ा था। लेखक को रोज लिखना चाहिए। लिखने का स्थान और समय निर्धारित करना चाहिए। उनकी सलाह का मैंने पालन किया और लगातार लिखता रहा।

मैंने कविता पर काम किया। दूसरी विद्याओं पर भी काम किया। कहानियाँ, उपन्यास, अनेक रंगों के लेख और टिप्पणियाँ लिखीं।

मैथिली भाषा को अपना उचित स्थान न तब प्राप्त था, न आज ही प्राप्त है। मैथिली भाषियों को किन-किन कार्यक्रमों में भाग लेना है, क्या आन्दोलन करना है, उन पर विचार किया। मेरे आलोचकों ने विश्लेषित किया कि मैंने आज के मैथिल समाज की सामूहिक मानसिकता की खोज की, उसे सुलझा कर देखा और उस मानसिकता को अपनी रचनाओं में विकसित किया। मेरी अभिव्यक्ति में वे बातें आती हैं। कुछ आलोचक मानते हैं कि इस अभिव्यक्ति में मुझे सफलता मिली है।

बांग्ला कवि काली पद कोडार एक बार कृपापूर्वक हमसे मिलने गाँव तक आये थे। उन्होंने सवाल किया मैथिली बिहार की राजभाषा क्यों नहीं है। मैंने इसका जवाब नहीं दिया था। मुद्दा इस सवाल का जवाब मैं आज भी ढूँढ़ रहा हूँ। आज इस वक्त एक बृहद विद्वत समाज इकट्ठा है। उसके सामने मैं वह सवाल रखता हूँ। मैं मैथिली के पक्ष में इस समाज का समर्थन माँगता हूँ।

हमें अनेक शिक्षकों ने प्यार और प्रोत्साहन दिया है। मैथिली के सम्पादकों और पाठकों ने बहुत आत्मीयता दी है। सम्पादक लोगों में स्व. सुधांशु 'शेखर' चौधरी का नाम कहना जरूरी है। उनकी उदारता ने मेरे लिए जरूरी अवसर उपलब्ध कराया।

मिथिला के समाज ने हमें प्रेरणा दी है, बल दिया है, जहाँ की भाषा और परम्परा ने प्रकाश दिया है। बाढ़ में डूबती-उतराती भू-दृश्यावलियाँ, इसकी नदियाँ, इसकी कोशी नदी के लौह-कनकन पानी, गाँव की गाछी, गाछी की चिड़ियाँ गाँव के डिहबार स्थान के पुराने पीपल के पेड़—इन सभी ने मुझे कथ्य प्रदान किया है।

इस महान देश के उदार विद्वत् समाज ने, जो श्रेष्ठ और आदरणीय है, एक साधारण लेखक को अपने अंश के रूप में अंगीकार किया है, उसके प्रति मैं सर झुकाकर आभार प्रकट करता हूँ।

कहानी में मौजूद वह दूसरा

हम लोग लिखते हैं। दूसरों के लिए लिखते हैं। इस तरह लिखते हैं कि दूसरों के लिए स्पष्ट हो।

मस्तिष्क में विचार आते हैं। चित्रों की तरह आते हैं, जैसे अवाक् कोई चलचित्र हो। वे चित्र बार-बार उग-डूब करते हैं, जैसे गान में ध्रुव पद तुरत-तुरत दुहराये जाते हैं। जब उन चित्रों को हम शब्दों के द्वारा, वाक्यों के द्वारा व्यक्त कर देते हैं तो वे साक्षी हो जाते हैं। यानी कि उसका एक हिस्सेदार लेखक होता है, दूसरा हिस्सेदार कोई दूसरा व्यक्ति होता है। वह दूसरा व्यक्ति ही पाठक या श्रोता है। वह एकवचन हो सकता है, वह बहुवचन हो सकता है।

जब आप दूसरे के लिए कथा-पाठ करते हैं, तो वह जो दूसरा है, उसे महत्त्व देना ही होगा। वह कितना सुनना चाहता है, कितनी देर तक सुनना चाहता है, इसे भी महत्त्व देना होगा। और, कान खोलकर रखिये कि उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है! आँख और कान मूँदकर लिखते रहो या फिर पाठ करते रहो तं एक दिन पाओगे कि निपट अकेले हो गये हो, मतलब कि व्यर्थ हो गये हो। मैथिली में कहावत है—बहरा नाचे अपने ताले।

जिस समय हम दूसरे आदमी की उपस्थिति महसूस करते हैं, तो उस दूसरे को अपने साथ जोड़ लेते हैं। अनुभव से और शब्दों से यह जुड़ना हो पाता है। इसका एक अर्थ यह भी हुआ कि उस दूसरे के हित-अहित से हम खुद भी उससे जुड़ जाते हैं। एक आदमी से जुड़ने का मतलब है एक देश से जुड़ना। फिर, एक देश से जुड़ने का मतलब है पृथ्वी पर मौजूद सभी लोगों से जुड़ना। उसकी व्यापकता

और उसकी परिधि का यदि विस्तार करके देखें, तो इसका मतलब है पृथ्वी पर विद्यमान समस्त जीवन-जगत से जुड़ना, कीट-फतिंगों से लेकर नदी और पहाड़ तक से एकात्म होना।

दूसरा आदमी क्या सुनना चाहता है, इसे भी विचारना होगा। दूसरा आदमी ज्यादातर जीवन के बारे में सुनना चाहता है। आप कहते हैं कि वह संघर्ष के बारे में सुनना चाहता है, लेकिन यह सच नहीं है। वह आशा और धैर्य के बारे में सुनना चाहता है। वह आपके बारे में सुनना नहीं चाहता, वह अपने बारे में सुनना चाहता है।

आपके अन्दर ही वह दूसरा आदमी भी वास करता है। वह उन क्षणों में भी उपस्थित रहता है। जब आप अपने कमरे को भीतर से बन्द कर अपने टेबुल पर कहानी लिखने में लीन हुआ करते हैं। उस पाठक को, उस श्रोता को कहानी के हर वाक्य में साथ रखना होता है। किसी जगह पर आपके कहे का अर्थ उस तक नहीं पहुँचा तो कहानी बन्द हो जायेगी। आप कहते चले जाइये लेकिन उसके कान का बन्द होना आपकी कहानी को स्वतः ही बन्द कर देगा।

साधारण जनता नाटक में प्रेषित विचार को सहजता से ग्रहण करती है। नाटक में बात को समझने लायक बनाने में बहुत मेहनत करनी पड़ती है। रोशनी के साथ अँधेरे को फेंटना पड़ता है, गद्य के साथ पद्य का मिश्रण बनाना पड़ता है। मनुष्य की कंठ-ध्वनि के साथ ढोलक-ढाक की ध्वनि को मिलाना पड़ता है।

कहानी का अभिप्राय पाठक तक सुरक्षित पहुँच जाए, इसके लिए आपको नाटक के सूत्रधार की ही तरह चतुर और कल्पनाशील होना पड़ेगा।

नाटक है—तमाशा, शो बिजनेस। कहानी और कविता लिखते समय सारा कुछ कितना ही अदृश्य रहे, मंच पर उच्चरित होने ही वह दृश्य हो जाता है। तमाशे में परिवर्त्तित हो जाता है। तमाशे का उद्देश्य है कि वह दर्शक को सन्तुष्ट भी करे, प्रफुल्लित भी करे और उसे फाँसकर रख सके।

हम जब दूसरे के साथ जुड़ते हैं तो हमारा विचार व्यापक होता है। यानी कि वह सबके लिए हो, सबके हित में हो। इसीलिए उसे छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए और तुच्छ टाइप के हितों के लिए नहीं होना चाहिए। निश्चित रूप से वह घृणा और हिंसा का पक्ष नहीं लेगा। वह प्रेम और सद्‌भाव की बात करेगा। वह श्रेष्ठ मानव-मूल्यों की बात करेगा। वह त्याग और आत्म-बलिदान की बात करेगा। वह अपने पाठक श्रोता को दुःख की दुनिया से आनन्द-लोक की यात्रा पर ले चलेगा।

हम लोगों ने जिन दिनों लिखना-पढ़ना शुरू किया था, उन दिनों हम मानव-मूल्यों को तोड़ने की बात किया करते थे। ऐसी बात लिखते समय भी यंत्रणा का अनुभव करते थे। मानव-मूल्य तोड़ने का वर्णन करते हुए हमें नरक में घुसने को कौतूहल और कष्ट भोगना पड़ता था। लिखने समय गाल और कनपटी गरम हो जाती है

और मांसपेशियाँ फड़कने लगती थीं। कहा जाता है वाम अंग फड़कता है, दाहिना अंग फड़कता है। लेकिन, हम तो पूरे-के-पूरे फड़कने लगते थे। इसका कारण था—विजातीय प्रभाव। और, आपने देखा कि यह कहीं नहीं बचा—न यूरोप में, न भारत में। हम खुद का जितना अहित कर सकते थे, किया। और कर भी क्या सकते थे?

कविता में नये कथ्य का आरम्भ इस देश में हो चुका है। इसमें मैथिली कविता का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस देश की कहानी में भी नये जन्म, नये अन्तरण का आरम्भ हो, इसकी प्रतीक्षा करना कतई निरर्थक नहीं है। जिनती भी श्रेष्ठ रचनाएँ है, उनकी भाषा, आप पायेंगे, आसान होती है। वह जीवन के निकट होती है। जीवन को आप जितना ही जटिल और विकट बनाकर उपस्थित करेंगे, वह रचना उतनी ही दुरूह होगी, और जुड़े हुए लोगों को भी दूर भगा देगी।

आप पैसे के लिए काम करेंगे तो पैसे नहीं मिलेंगे। यश के लिए करेंगे तो यश नहीं मिलेगा। अपनी ओर से समाज को आशा और त्याग सिखाने की कोशिश करके देखिये, यदि आप थोड़ी भी सार्थक दृष्टि विकसित कर पाये तो आप देखियेगा सारी दुनिया आपके पास आयेगी। सम्भव है पैसे और यश भी आ जाएँ। कहते हैं—बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख।

मेरा खयाल है, हम सबको अँधेरे में एक दीप जलाने की इच्छा करें, और इसी जुगाड़ में लग जाएँ।

साइकिल पर सूर्य

मेरी नौकरी के अब तीन ही साल शेष रह गए थे कि जबरन मेरी बदली कर दरभंगा जिले के एक दुर्गम देहात में भेज दिया गया।

गाँवों में स्कूल अधिकतर आखिरी छोर पर होते हैं। हमारा यह स्कूल भी बस्ती के पच्छिम-दच्छिन कोने पर सुनसान जगह पर अवस्थित था। वह डेरा डालने लायक स्थिति में नहीं था, इसलिए स्कूल के निकटतम बाजार में मैंने आवास लिया। होटल में भोजन करने लगा और साइकिल चलाकर विद्यालय करने का अभ्यास लगाया।

मेरे डेरे से स्कूल जाने के कई रास्ते थे। एक साल तक जिस रास्ते से आता-जाता रहा, उसमें दो किलोमीटर तक खरंजा था। जवाहर योजना के अधीन गाँव के रास्तों पर ईंटें बिछा दी जाती थीं, उसे खरंजा कहते थे। उस रास्ते से जाता तो आठ किलोमीटर साइकिल का पैडिल चलाना पड़ता था। कोशी की दरभंगिया ढाब में ट्रैक्टर बहुत चलते हैं। ये ट्रैक्टर गाँव घर के रास्तों को नष्ट कर उजाड़ देते हैं, जगह-जगह गड्ढे बना देते हैं। कुछ ही दिन में खरंजा-वाला रास्ता दुर्गम हो गया। तब मैंने घुमान-वाला

रास्ता पकड़ा। अनुमान किया कि इस रास्ते से स्कूल की दूरी एक किलोमीटर बढ़ गई।

इस परिवर्तन के बाद यदि कोई मुझसे पूछता कि डेरे से स्कूल की दूरी कितनी है, तो मेरा उत्तर कुछ इस तरह होता था—पिछले साल स्कूल आठ किलोमीटर दूर होता था, इस साल नो किलोमीटर दूर हो गया है।

प्रश्नकर्त्ता मेरा उत्तर सुनकर मेरी सरलता पर मुस्कुरा देता था।

साइकिल पुरानी थी। घर पर पड़ी रहती थी, कम चलती थी, तो कम टूटती थी, कम भँगठती थी। दरभंगा जिले के इस भाग में आकर अब वह मेरी नौकरी में सहायक हो गई, मेरा हाथ-पाँव हो गई। उसे प्रतिदिन बीस किलोमीटर का फेरा लगने लगा। फेरा पड़ा तो मुझे मालूम पड़ने लगा कि साइकिल नहीं चला रहा, रिक्शा खींच रहा हूँ। इस हालत में साइकिल पुरानी रद्दी लगने लगी।

साइकिल का असहयोग भी चालू हो गया। उसके पार्ट-पुरजे रोज-रोज टूटने लगे। हर दिन मिस्त्री के सामने उसकी पेशी शुरू हो गई।

रास्ता था टूटा हुआ, बिखड़ा हुआ। खरंजा की ईंटें जगह-जगह उखड़ी हुई। टूटी-फूटी जगह पर साइकिल का चक्का नीचे उतरे तो भट की आवाज करता। वही जब ईंट की कोर पर चढ़ता तो दुगूनी ताकत लगानी पड़ती। ईंट की उभड़ी-खुभड़ियाँ गति के लिए बाधक होती। समतल राह पर जितना बल लगाने से चक्का गड़कता, उसका दुगूना दम खरंजा पर माँगता।

रास्ते में कीचड़ मिलती, सड़क पर चढ़ाई मिलती। ज्यादातर ऐसा होता कि पैडिल नीचे गिरना ही बन्द कर देता। मैं परेशान हो जाता, दम फूलने लगता। फेफड़े पर जोर पड़ती, वे दुगूनी हवा भीतर खींचते और डेढ़ गुनी बाहर उझीलते। समूची देह की चमड़ी पसीने के उद्‌गार से भीग जाती। अर्थ लगता कि 'बल' का एक समानार्थी शब्द—'दम'। कभी-कभी तो यूं होता कि पैडिल पर खड़ा हो जाता तब चक्का मसरता। मालूम होता कि साइकिल पैरों से नहीं, फेफड़े के जोर से चला रहा हूँ। ऐसे में 'दम' शब्द का अर्थ स्पष्ट होता।

कभी-कभी तो लगता कि अब आगे साइकिल खींचना पार नहीं लगेगा। दूसरे लोग इसमें मदद भी क्या कर सकते थे। रास्ते के लोग तो ज्यादातर देखते भी नहीं। कुछ लोग मुहूर्त्त-भर देखते और बिना कुछ कहे-सुने बढ़ जाते थे। ऐसे में कुछ-न-कुछ ऐसे लोग भी निकल ही आते हैं जो आपको सलाह देंगें, उटपटांग बातें करेंगे, आपको निकम्मा साबित करने में अपने को कृतार्थ समझेंगे। लेकिन, कुछ लोग इससे भी खराब क्वालिटी के मिलते हैं। वे हँसेंगे। वे प्रत्येक दुखी और निरुपाय मनुष्य को देखकर हँसते हैं। दुखी लोग उन्हें चमत्कृत करते हैं।

लोग प्रकृति की ओर देखते हैं। बरखा के लिए व्याकुलता होती है तो मेघ की ओर देखते हैं। हवा उठे या गिर जाय, इसके लिए पूरब और पच्छिम क्षितिज

की ओर देखते हैं। और, नीचे तो हर हाल में देखना ही होता है। नीचे की सड़क, उसके गड्ढ़े, सड़क पर मौजूद ईंट, रोड़े और कीचड़—इन सबसे बचकर चलना होता था।

ऊपर की ओर देखना कठिन होता था। लेकिन, हिम्मत जवाब देने लगे तो ऊपर की ओर देखना जरूरी होता था। सूर्य को देखना अच्छा लगता। सूर्य आकाश में जलता रहता था। मेघ और हवा से घिरा अग्निपिंड, जो एक ओर मौजूद, जाज्वल्यमान रहता था। पृथ्वी के सारे क्रियाकलापों का उद्दीपक यह सूर्य ही होता था। मैंने सोचकर देखा तो लगा था कि पृथ्वी पर विद्यमान प्रत्येक प्रकार के जीवन का मूलाधार यह सूर्य ही होता था। वह सभी चीजों से ओत-प्रोत था। सूर्य को लेकर मैं निश्चिन्त रहता किक यह तो साथ चलेगा ही चलेगा। साइकिल की जीर्ण गति में वह शक्ति लाएगा। ज्यादातर मैं सूर्य का ध्यान करता। जैसे अपने प्राणों के मूल का स्मरण कर रहा होऊं, उसे जगा रहा होऊं।

हमारे इलाके में सूर्य की पूजा प्रचलित थी। अर्थ लगता कि यह कितना जरूरी है। कीचड़ में पाँव फँस जाए तो उससे निकलने का प्रयत्न करना ही पड़ता है। सूर्य का स्मरण ऐसा ही प्रयत्न था।

सहायता के लिए सूर्य को बुलाना आसान है। उस समय सूर्य मित्र हो जाता है। याद आया कि सूर्य का एक समानार्थी शब्द 'मित्र' है। इसका अच्छा असर हुआ। फिर मैत्री का आरोपण हवा में हुआ। धरती में हुआ। बरखा की बूँदों में हुआ। कीचड़ पर कविता लिखना, कीचड़ में आहार खोजते बगुले की चहल कदमी पर कविता लिखना, इसीलिए सम्भव हुआ। सहानुभूति का विस्तार होता गया। सड़क किनारे पैदा होकर उसे अर्थवत्ता प्रदान करने वाले पेड़-पौधे भी मित्र हो गए और सहायता करने लगे। साइकिल का जीर्ण चक्र जैसे गतिशील होने के लिए प्रस्तुत हुए।

मनुष्य अनेक संघर्ष करने के लिए पैदा हुआ है। उसका जीवन अनेक प्रकार की परिस्थितियाँ भोगने के लिए नियत हैं।

उस साल चित्रा नक्षत्र मेघ-भर बुँदियाता रहा। मेघ, हवा और बरखा। एक दिन बजाब्ता मिस्त्री से दिखाकर साइकिल ले गया था। स्कूल जाने पर स्पष्ट हुआ कि ट्यूब से हवा निकल गई है। विद्यार्थी को भेजकर हवा भरवा ली गई। लेकिन, लौटते समय साइकिल फिर पंचर। खींचना—घिसियाना शुरू किया। पाँच-छह किलोमीटर खींचना पड़ा। साथ में छाता था। हवा के तेज छोंके के साथ बारिश शुरू हो गई। छाता तानकर खड़ा हो गया कि बारिश थमें तो आगे बढ़ूँ। झोंका इतना तेज था कि छाते को उसने उनार दिया। केवल उनारा ही नहीं, उसकी घिरनी के तार तक को तोड़ डाला। छाता बेकाम हो गया। अब वह लदनी का एक सामान भर रह गया।

भीगता रहा और साइकिल खींचता रहा। शाम का अँधेरा न घिर आए, इस भय से हबड़-दबड़ बढ़ता रहा।

बाजार पहुँचा। छाता सिकलगर को दिया। साइकिल मिस्त्री को दी।

भूख लगी थी। भादो की उस शाम में भूख शान्त करने के लिए खीरा खरीदा और दकड़ने लगा। खीरा खाने के पीछे धारणा यह थी कि इतनी उत्कट गर्मी की वजह से जॉन्डिस न हो जाए। उससे बचने के लिए ठण्डी चीज खाना जरूरी था। इस तरह फिर अगले दिन साइकिल खींचने के लिए और नौकरी निभाने के लिए अपनी देह को तैयार करने का यत्न किया।

आपका कोई मनोरंजक चित्र

पहले दूरदृष्टि खराब थी। चीजें दिखती थीं, लेकिन धुँधली-सी, लिभड़ी-सी नजर आती थीं। फिर आँख पर चश्मा चढ़ा। चीजें स्पष्ट हो गईं। लेकिन, अस्वाभाविक से कुछ बिम्ब बनने लगे। सब चीजों की आकृति में विस्तार हुआ। छोटी चीजें बड़ी हो गईं। दूर की चीजें निकट दिखाई पड़ने लगी। अब इसकी वजह से असुविधा शुरू हो गई। सीढ़ी उतना है, देख-भालकर उतर रहा हूँ लेकिन फिर भी पैर धपा-धप धपा-धप गिरते हैं। ऐसा हुआ कि बाइ-फोकल चश्मा पहनकर चलिए, थाह-थाहकर चलिए।

उमर बढ़ती है तो आंखें तरह-तरह के खेल दिखाती हैं। चश्मे का पावर तो बरसों-बरस एक जगह स्थिर रहता है, लेकिन आँख का 'पावर' मिनट-मिनट में बदलता चलता है। आँखें तो आप बदल सकते नहीं, चश्मा बदलकर सुविधा प्राप्त कर लेते हैं।

कई लोग चश्मे को शृंगार समझते हैं। यह बात सच भी है। कुछ लोगों के चेहरे ऐसे होते हैं कि चश्मा पहना दो तो सुशोभन लगते हैं।

लेकिन आँख के करिश्मे भी कई-कई हैं। कहा जाता है, चालीस की उमर हुई तो आँखों पर शीशा चढ़ जाएगा। फिर भी आँख तो आँख ही है। दस बरस के बच्चे की नाक पर भी चश्मा चढ़ा दे सकती है। साठ बरस होने पर कुछ लोग चश्मा चढ़ाना छोड़ देते हैं, लेकिन कुछ लोगों से यह पार नहीं लगता।

साठ की उमर मैंने भी पार कर ली है। इन्तजार कर रहा हूँ कि मुझे भी चश्मा उतारकर दुनिया को देखने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

लेकिन, इधर एक नई घटना हो गई है। दोनों आंखों से दो अलग-अलग चित्र बनते हैं, और वे दोनों साथ दिखाई देते हैं।

यह स्वाभाविक स्थिति है। इसके उलट हो यह रहा है कि दोनों आंखों से दो अलग-अलग चित्र बनते हैं और वे दोनों एक-दूसरे से तनिक दूरी लिये हुए अलग-अलग दिखाई देते हैं। यह स्थिति बुरी है। मेरी आँखें इस स्थिति में चली गई

हैं और इस वजह से बड़ी असुविधा हो रही है। आप कहेंगे कि क्या मैं एक वस्तु को दो वस्तुओं के रूप में देखता हूँ, तो ऐसा नहीं है। आदमी एक ही दिखाई देता है, लेकिन उसकी आँखें, उसकी नाक दुबारा दिखती हैं। इसका फल होता है कि उसका चेहरा लिभड़ा दिखाई देता है। उसका आदमी को पहली नजर में पहचानने में परेशानी होती है। बड़ी देर तक उसकी ओर देखते रहो तो कुछ सफलता मिल सकती है। आदमी जैसे-जैसे नजदीक आता जाता है, उसके चेहरे का धुँधलका छँटता जाता है। लेकिन, यह स्थिति अस्वाभाविक है। सिर्फ उसको पहचानने के लिए उसके पास जाएँ या उसे अपने पास बुलाएँ, यह व्यावहारिक नहीं है।

एक बार एक अच्छे नेत्र-विशेषज्ञ से आँखें दिखा रहा था और चश्मा ले रहा था। उनसे मैंने कहा कि इस तरह दोनों आँखों से दो अलग-अलग बिम्ब बनने के कारण देखी हुई चीज भी स्पष्ट नहीं हो पाती है। वह बोले—शीशा बदल देता हूँ, ठीक हो जाएगा। शीशा बदल दिया गया। ठीक नहीं हुआ। महीने-के-महीने इस उम्मीद पर मैं गुजारता रहा कि अब सब ठीक हो जाएगा। लेकिन क्योंकर वह ठीक होगा!

इस स्थिति में मनोरंजन किस तरह होता है, इसके कुछ उदाहरण देता हूँ। रात के आकाश में बहुत चमकदार कोई तारा देखता हूँ। तारे देखना अब भी अच्छा लगता है। तारा दीखता तो एक ही है, लेकिन गोल नहीं, लम्बा-लम्बोतरा दीखता है। ऊपर से नीचे की तरफ लम्बाईत में फैला हुआ। इसी तरह, शाम को किसी मोटर साइकिल के पीछे की लालबत्ती देखो, तो जैसे-जैसे मोटर साइकिल दूर होती जाती है, लालबत्ती बड़ी और लम्बोतरी होती जाती है। विकार ठीक वैसा ही, ऊपर-नीचे लम्बाई लिये वृद्धि।

दो दिन पहले की बात है। मेरे ओसारे के नीचे से कोई जा रहा था। मैं ओसाने पर खड़ा था। उस आदमी ने मुझे देखा और नमस्कार किया। मैं भी उसे पहचान गया। बोली सुन लो तो पहचान असंदिग्ध हो जाती है। वह भी हो गई। इस सबके बावजूद, उसके चेहरे को जब मैंने देखा तो काफी ज्यादा देर तक देखता ही रह गया। मुझे उसके चेहरे पर दो जोड़ी आँखें दिखाई दे रही थीं। एक जोड़ी ऊपर, दूसरी जोड़ी उसके ठीक नीचे। अच्छा मनोरंजन हुआ। चार आँखों वाला आदमी देखा। किसी को बताऊँ तो विश्वास नहीं करेगा। आदमी अपरिचित होता तो भय भी हो सकता था कि कहीं राक्षस को तो नहीं देख रहा हूँ। लेकिन, वह मेरा परिचित था। अभिवादनशील परिचित। उसे देखा। विस्मय में पड़ा रहा।

याद रखिएगा। आपकी ओर यदि कोई वृद्ध व्यक्ति देखे, और काफी देर तक टकटकी लगाकर देखता रह जाए तो समझ जाइएगा कि वह आपका कोई मनोरंजक चित्र देख रहा है।

जीवकान्त के पत्र

सृजेता का अकेलापन

(रमेश थानवी को लिखा गया पत्र)

प्रिय रमेश भाई

आपका 30.09.07 दिनांकित पत्र यहाँ 24.10.07 को आया था। आपके पत्र में मेरे लिए सम्बोधन के शब्द हैं—बड़े नेह के भाई सचमुच यह आपकी उदारता है—उदार चरितवालों के लिए वसुधा ही कुटुम्बकम् है।

मैं साधारण आदमी। मैथिली में कविताएँ लिखने लगा। फिर कहानियों में आया। मेरा गद्य लेखन दोषपूर्ण है। आधा कह पाता हूँ। आधा छूट जाता है। सारी बात धुँधली रह जाती है। संस्कृत में कहते थे—गद्यम् कविनाम् निकषम् वदन्ति।

1990 से इधर के दस-पन्द्रह वर्षों में मैं कविताएँ ही लिखता गया। यह देखने के लिए आधुनिक कविता किस दिशा में कितनी दूर जाती है।

पत्रिकाएँ गद्य माँगती हैं, कहानियाँ माँगती हैं पिछले दो-तीन वर्षों से मैं सिर्फ कहानियाँ पढ़ रहा हूँ। कहानी लिखे बारह सालों के बाद, मैंने कहानियाँ लिखने की फिर कोशिश की, तो पिछले एक साल में मैं केवल छह कहानियाँ लिख पाया।

मैथिली में हम पत्रिकाओं के लिए लिखते हैं। किताब के लिए नहीं लिखते। किताब अपने पैसे से छापनी पड़ती है। किताबों का कोई खरीददार नहीं है, इसलिए विक्रेता नहीं हैं। पिछली बरसात में मैंने अपना इकहत्तरवाँ साल पूरा किया। मैं सारे रोगों को आमन्त्रित करके ले आया हूँ। मेरे एक डॉक्टर मित्र ने कहा कि लेखक रोगों को न्यौंतता है। जो दिन-भर सोचेगा कि दुनिया के सारे दुष्टों, भ्रष्टों, गलत परम्पराओं से लड़ूँगा, वह स्वस्थ कैसे रहेगा?

मेरी कविता ने अन्त में आकर लड़ने-मारने की चर्चा छोड़ दी। वह अद्‌भुत सुन्दरताओं को सराहने में लग गयी। सूर्य की किरणों में पेड़ के पत्तों के बीच विचरने को आ गयी।

अभी भी रात में मैं नींद की गोली लेता हूँ।

इस बार सारी बरसात हमारे भू-भाग (उत्तर-बिहार) को तोड़-फोड़ और डूब

क्षेत्र बनाने में लगी रही। ऐसी परिस्थिति में बरसती रातों में जो घर में सोता भी है, तो उसे अनेक बार डर आता है कि गाँव डूब रहा है।

2

बुद्ध ने घर छोड़कर सोचा किया कि जीवन का उद्देश्य क्या है और जिएँ, तो क्यों जिएँ। उसका उपदेश हुआ–भिक्खुओ, बहुजन हिताय बहुजन सुखाय जिओ। (चरत्थ भिक्खवे, चारिकं बहुजनहिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय...)

प्रत्येक व्यक्ति को जीने का लक्ष्य उपलब्ध होता है। आपका लक्ष्य है बच्चों के लिए सम्मान भाव से उनके जीवन और शिक्षण को आनन्दमय बनाना। 'अनौपचारिक' के पृष्ठ से एक जंगली फूल (वनफूल) की गन्ध आती है जो बच्चों की गरिमा देने की क्रिया में जंगल में खिल सकता है, बाजार में और शहरों के बड़े कम्पाउंड वाले विश्वविद्यालयों में नहीं खिल पाता है।

आपके लक्ष्य को पूरा करने के लिए संयोग और प्रकृति ने आपको विधुर बना दिया है। आप सारा ध्यान अखंड रूप से अपने लक्ष्य को दे सकते हैं।

लोहिया ने सोचा और किया। वे अविवाहित थे।

जयप्रकाश ने विवाह किया। पर वह परम्परित विवाह नहीं था। इसने उन्हें लोक-सेवा के लिए बन्धन से मुक्त कर दिया था।

नेहरू खानदान को ही लें। कमला नेहरू ने 36 वर्ष की आयु में देह-त्यागकर जवाहरलाल को बन्धन से मुक्त कर दिया था। इन्दिरा को जनसेवा में आना था। उन्होंने पिता की सेवा के लिए सारे बंधन तोड़ दिए और समय ने उन्हें भी काँटों का ताज पहनाया। (अभी इन्दिरा गाँधी पर इन्दर मल्होत्रा की किताब हिन्दी अनुवाद में पढ़ रहा हूँ।) अभी सोनिया गाँधी अमेरिका और चीन के दौरे पर जा रही हैं। उन्हें भी राजीव गाँधी ने भी अल्पायु में देह त्यागकर देश की राजनीति करने के लिए अपरिमित अवकाश दे दिया।

आप बच्चों की गरिमा के लिए जीयेंगे।

पढ़ता क्या हूँ। कुछ तय नहीं कर पाता, क्या पढ़ना चाहिए। सर्वभक्षी पाठक (भोरेसस रीडर) हूँ। दिल्ली के हिन्दी प्रकाशक नयी-पुरानी किताबों का चिट्ठा भेजते रहते हैं। उन्हीं विज्ञापनों से मैं कुछ किताबें छाँटता हूँ और भी. पी. पी. से मँगाता हूँ। डाक विभाग पर निर्भर हूँ। मेरा गाँव जिला मुख्यालय से सत्तर किलोमीटर दूर देहात में है। हिमालय पर बरस चुका पानी गंगा की ओर भागते हुए हमारे गाँवों को हर साल डुबोता है।

विष्णु सहस्रनाम की टीका शांकर भाष्य का हिन्दी अनुवाद गीता प्रेस ने छापा है। हजारों नामों को पढ़कर इन हजार शब्दों के सरलार्थ और भावार्थ में विचरना अच्छा लगा था। असमी लेखिका, इन्दिरा गोस्वामी की जीवनी, ''जिन्दगी कोई सौदा

नहीं'' अच्छा लगा था। बाल्जाक की ''किसान'' मोहित करती है। टाल्स्टाय की कहानियों के संसार में विचरना एक सुखद अनुभव है। हिन्दी के लेखक में पाठक को बाँधने की शक्ति नहीं है। बंगला, मराठी, तमिल, मलयाली का लेखन बाँधता है। महाश्वेता देवी, आशापूर्णा देवी, एम. टी. वासुदेवन नायर, अखिलन, अनन्तमूर्ति, खांडेकर—इन अनेक लेखकों को हिन्दी अनुवाद में पढ़ना अच्छा लगता है।) मेरे लिए किताबें भेजते हैं—भारतीय ज्ञानपीठ, साहित्य अकादेमी, एन. बी. टी., हिन्द पाकेट बुक्स, राजकमल प्रकाशन, राजपाल एंड संस, इत्यादि...।

इधर पेंग्विन वाले भी हिन्दी में छापने लगे हैं। एक किताब इधर-उधर से मिली थी। उनसे सम्पर्क बनाया नहीं है। अब जाल समेटने को दिल करता है। अब किताबें नहीं मँगाऊँगा। फिर भी, इधर, 'पहल' (जबलपुर) को सदस्यता राशि मनीऑर्डर से भेज दी है। चलो, अब खत्म करते हैं।

आपका स्नेह-भाजन,
जीवकान्त
30.10.07

लेखक का गूँगापन और गतिहत्या

(तारानन्द वियोगी को लिखा गया पत्र)

प्रिय तारानन्द जी,

आपका 20.07.89 का सहरसा से लिखा हुआ पत्र प्राप्त हुआ है। आपके पत्र की प्रतीक्षा काफी दिनों से थी। अब आप जमालपुर में अधिक समय रहियेगा, तो आपसे अक्सर पत्राचार होगा, यह उम्मीद करता हूँ।

कविता-संग्रह का सम्पादन मैं करूँ, यह निर्णय अभी नहीं लिया है। सामूहिक संकलन अर्थाभाव में किया गया काम है। पैसे हैं नहीं। फिर भी कुछ महत्त्वपूर्ण करना है, तो यह ठीक रहता है। इस साझा संकलन के बारे में केदार कानन ने एक बात लिखी है, जो मुझे महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुई है। उन्होंने लिखा है कि साझा संकलन का प्रभाव साझा और विश्लिष्ट (जयादा सही शब्द होगा-असंश्लिष्ट) प्रभाव बनता है। इसलिए किसी कवि को खुद को प्रोजेक्ट करने के लिए वैयक्तिक संकलन छपवाना चाहिए, भले ही वह लघुगान ही क्यों न हो...

सम्पादित कविता-संग्रह का अपना उद्देश्य होता है। यदि कविताओं में कोई नयी और अभूतपूर्व बात आ रही हो तो ऐसे संकलन की उपयोगिता समझी जा सकती है। नहीं तो फिर रद्दी में रद्दी फेंकने का क्या लाभ?

किसी साहित्य में गतिरोध और जड़ता आ जाये तो उसे तोड़ा जा सकता

है—पुराने के अस्वीकार से और इसी क्रम में नये के ग्रहण से। यह काम नयी पीढ़ी ही कर सकती है। उचित है कि नयी पीढ़ी के पाँच-दस लोग मिलकर एक ग्रुप बनायें। पुराने (तात्कालिक पुराने) के निषेध के कारण खोजें और उसका निषेध कर दें। उचित है कि वे नयी बातों की जरूरत महसूस करें, उन्हें चिह्नित करें, दस कांडों से (with a bang) उसे व्यक्त करें और जड़ता को तोड़ दें। साहित्य की जड़ता को तोड़ दें और साहित्य में नये प्राण का संचार करें, नया रक्त प्रवाहित करें—इसकी जरूरत है। यह करने का समय आ चुका है। यह सारा कुछ आप ही लोग कर सकते हैं। केदार, तारानन्द, नवीन, नारायण जी, शिवशंकर श्रीनिवास, और इसी त्वरा के और भी कुछ लोग एक साथ बैठें और तीन-चार सीटिंग में इन बातों को तय करें और न्यूनतम सहमति प्राप्त करने की चेष्टा करें।

देवशंकर नवीन को भी मैंने इस तरह की बातें लिखी हैं। लेकिन, इस तरह विस्तार से नहीं।

आपने अपने पत्र में लिखा है कि इधर कुछ दिनों से आपका लेखन अवांछित रूप से गतिहत हुआ है। अपने लेखन को भी मैं गतिहत मानता हूँ। इसका प्रमाण मेरे पास यह है कि 1969 के बाद मैंने कोई उपन्यास नहीं लिख पा रहा हूँ। कविता लिखने में भी वैसी कोई गति नहीं है। इधर दो-तीन वर्षों से जो भी थोड़ी-बहुत कविताएँ लिखी हैं, वे मुझे सन्तुष्ट नहीं करतीं।

अपने लेखन की गति-हत्या का ठीक-ठीक कारण मुझे नहीं पता, लेकिन उसका कुछ अनुमान लगा रहा हूँ। वह भी इसलिए कि इसमें आप अपनी गतिहीनता का अन्वेषण कर सकें।

पत्रिकाओं के लिए लिखता था। पत्रिकाएँ अब रहीं नहीं। पहले साप्ताहिक 'मिथिला मिहिर' की नियमितता आश्वस्त करती थी। किताब के लिए कभी लिखा नहीं और न आज सोच पा रहा हूँ। किताबों के प्रकाशक नहीं हैं और अपना पैसा लगाकर किताब छपवाना मेरे वश का नहीं।

मुझमें संवेदना का भी अभाव हुआ है। पहले छोटी-छोटी बातें भी मर्मस्पर्श करती थीं, आहत करती थीं। अब बड़ा हादसा भी हो जाए तो मटिया देता हूँ। यह चीज रचनाकार की ऊर्जा को घटाती है। इसलिए हरेक घटना-दुर्घटना पर प्रतिक्रिया करें, मन में यदि आक्रोश जनमे तो उसे जोगाएँ और विकसति करें। आलोचक का तरीका होता है—यह अच्छा, यह बुरा। इस तरह सोचने लगा हूँ। इस तरह सोचना सृजेता की हत्या करना है। आलोचकों को सन्तुष्ट करने के लिए लिखना एक तरह का वेश्यापन है। मेरे साथ दिक्कत है कि मेरे भीतर एक आलोचक पैदा हो गया है, जिसने मेरे सृजेता को कुंठित कर दिया है। पहले ये बात रही होगी कि आलोचक के विकसित होने से पहले ही मेरे सृजेता ने इतना सारा कुछ लिख लिया। काफी कुछ लिख लेने के बाद एक बार मुड़कर देखने की इच्छा होती है। आलोचकों और

समाज से मिलने वाली मान्यता की ख्वाहिश होती है। बाहरी आलोचकों की मैंने कभी परवाह नहीं की, अभी भी नहीं करता। लेकिन, अपने इस भीतर के आलोचक को कैसे निर्वासित किया जाय? ऐसे बहुत सारे लेखक आपको मिलेंगे, जो आलोचक बनने के बाद सृजनशील लेखन (क्रिएटिव राइटिंग) नहीं कर पाये।

फिर, स्वतःस्फूर्त और अतिस्फूर्त लेखन के लिए जरूरी है कि आप पढ़ना बन्द कर दें। जरूरी है कि मैं जिस तरह की कविता लिखता हूँ, वैसी कविता पढ़ना बन्द कर दूँ। यही बात कहानी और उपन्यास पर भी लागू होती है। अपने समानधर्मा लेखकों की रचना पढ़ने से अपनी रचनात्मकता का क्रमिक क्षय होता है। कोई बात आप कह नहीं पाते कि कोई दूसरा यही बात कह गया है। कह नहीं पाते कि कोई दूसरा बेहतर ढंग से यही बात कह गया है।

कुछ दिन पहले भाई कुलानन्द मिश्र से बातों-ही-बातों में यह जानकारी मिली कि स्वर्गीय फणीश्वरनाथ रेणु साहित्यिक कथा, उपन्यास नहीं पढ़ते थे। पढ़ने की इच्छा को सन्तुष्ट करने के लिए वह जासूसी उपन्यास पढ़ते थे। इससे उनका सृजनशील लेखक अपने समकालीनों की प्रतिभा और अभिव्यक्ति से कुंठित और हतप्रभ और अनुर्वर नहीं हो पाता था।

मोहन भारद्वाज ने कविता और कहानी से अपना लेखन आरम्भ किया था, अब कविता और कहानी लिख पाना उनकी सामर्थ्य से बाहर है। प्रो. मायानन्द, मिश्र का लेखन अवरुद्ध हो गया। अब वह फार्मूला से बँधा लेखन कर रहे हैं। मेरे लिए पूर्णकालिक आलोचक बनना या फार्मूले पर लिखना सम्भव नहीं है।

कविता लिखनी है तो दूसरों की कविता पढ़ना छोड़ देना होगा। यह नहीं हो पाता है। देशी-विदेशी कवियों की कविताएँ पढ़ने की ललक नये सिरे से बनी और बढ़ी जाती है। ठीक उसी तरह कहानी पर और कहानी के बारे में भी।

मैं, लेखन के लिए अपने ऊपर ये सारे संयम और नियन्त्रण लागू नहीं कर पाता हूँ। इसलिए लेखन के नाम पर चिट्ठियाँ लिख-लिखकर लेखन की भूख शान्त करता हूँ।

इधर एक दिन मैंने भाई कुलानन्द मिश्र को लिखा है कि क्रिएटिव राइटिंग के लिए मेरे पास अब तक कोई इच्छा बची नहीं है। इसलिए सुबह-शाम के अपने समय को ऊब से बचाने के लिए मैंने ट्यूशन खोज लिया है। और सच में खोजकर उसमें लग गया हूँ।

यह पत्र आवश्यकता से अधिक अनौपचारिक हो गया है। सम्भव है, इसे पढ़कर आपको अपने लेखन-अवरोध की पड़ताल करने में कुछ मदद मिल सके। सप्रेम।

भवदीय अग्रज
जीवकान्त
30.07.89

लेखक का गन्तव्य

(प्रदीप बिहारी के नाम लिखा गया पत्र)

प्रिय प्रदीप,

कथागोष्ठी।

कथाकार लोग अपने बारे में बात करना चाहते हैं। अपने बारे में, अपनी प्रशंसा सुनना चाहते हैं। कोई टिप्पणी अपर्याप्त लगी, तो उसे काटने के लिए कमर कस कर भाषण करते हैं। प्रहार करते हैं। ऐसे में आलोचक के लिए कोई जगह नहीं बचती। आलोचक की जगह पहले भी नहीं थी। कहा जाता था—जीवितकवेराशयो न वर्णनीयः।

आलोचना की जहग बस इतनी बचती है कि किसी कहानी में कोई महत्त्वपूर्ण बात है तो उसे पकड़े। उसकी चर्चा, उसका उल्लेख करे। इतना सुनने की अपेक्षा तो कथाकार से की ही जाएगी।

कुछ लेखक शीर्ष स्थान की यात्रा के लिए प्रयत्नशील हैं। यह अच्छी बात है। लेकिन, कुछ लोग काफी हड़बड़ी में हैं। कल शीर्ष पर पहुँचेंगे, सो आज ही क्यों न पहुँच जाएँ। ऐसे लोग विश्वामित्र हुए बैठे हैं। मान्यता न दो तो हत्या करेंगे। मान्यता के लिए समानान्तर सृष्टि रच लेंगे।

लेकिन, शीर्ष की यात्रा बुरी बात नहीं है। यह महत्वाकांक्षा है, यह भी बुरा नहीं है। चट मँगनी पट ब्याह के लिए उत्सुक होना बुरी बात है।

हाँ, यह टिप्पणी कुछ ही कथाकारों पर लागू होती है, सब पर नहीं। कुछ ऐसे भी कथाकार हैं, जिन्हें अपनी आन्तरिक क्षमता को बढ़ाने की प्रक्रिया का ज्ञान है। वे अपने काम में लगे हैं, उसकी गुणवत्ता को बढ़ाने के लिए उत्सुक हैं। वे हड़बड़ी में नहीं हैं। अभी तुरन्त उन्हें मान्यता क्यों नहीं मिल जाती, इसके लिए कोई आतुरता नहीं है। उन्हें आत्मविश्वास है कि निकट भविष्य में वे मान्य होंगे, शीर्ष स्थान वे अधिकारी होंगे।

कुछ कथाकार अपने विकास-क्रम को भलीभाँति समझते हैं, उसकी निरन्तरता को नष्ट करना नहीं चाहते। उनकी कहानियों में आपको सफाई मिलेगी। हर दृष्टि से ठोंकी-बजायी। सभी मानदंडों पर पूर्ण। हर तरह से परिपक्व। शब्दों का दुरुपयोग नहीं। ऐसी कहानियाँ ज्यादा दिन तक जिन्दा रहती हैं। भाषा और सीमाओं से भी आगे बढ़ जाती हैं। ऐसे ही कथाकारों ने लेखकीय मर्यादा को बचाकर रखी है। ये लोग अगर न होते, तो कथागोष्ठी भठियारों का गाली-गलौज होकर रह जाती।

कबीर ने कहा था—सिंहन के लेंहड़े नहीं, हंसन की नहिं पाँत। लालन की नहिं बोरियाँ, साधु न चले जमात। लेखकों को इस तरह जमात बनाकर रात-भर जगना चाहिए या नहीं, यह विचारणीय है। कुछ निम्न लक्ष्य वाले लेखक भी होते

हैं। उन्हें कहा जाता था—कवियशः प्रार्थी। ऐसे लोग अनेक प्रयत्न करते हैं, अनेक तरह से गोटी बैठाने की जुगाड़ लगाते हैं। इस प्रकार के मंचों का इस तरह दुरुपयोग भी होता है।

जब एक नया लेखक पैदा होता है, पाठक उसे आजमाता है। उसकी शक्ति की परीक्षा लेता है। लेखक में यदि शक्ति पायी गयी तो पाठक उसके पक्ष में हो जाता है, उसे पसन्द करने लगता है और अन्ततोगत्वा उसका अन्धभक्त हो जाता है। लेखक अपनी एक-एक रचना से अपने पाठकों की संख्या बढ़ाता है। एक-एक पाठक का दिल जीतता है। तभी उसके पाठकों की संख्या सैकड़े से हजार में और हजार से लाख में पहुँचती है। पाठक के एक बड़े समुदाय तक पहुँचना स्पष्ट रूप से लेखक की सफलता है। हमेशा से यही सच रहा है। साधारण पाठक के लिए आलोचनात्मक विश्लेषण का बहुत थोड़ा महत्त्व है। जिस लेखक के पास बड़ा पाठक-वर्ग है, उसके प्रशंसक पैदा होते हैं, उसके आलोचक उत्पन्न होते हैं, जो उसे उचित महत्त्व दिलाते हैं।

पाठक तक पहुँचने की इस क्रिया में कथागोष्ठी का महत्त्व बहुत थोड़ा है कथागोष्ठी एक अवसर है, एक प्रोत्साहन है, लेकिन यह मान्यता प्राप्त करने का परीक्षा-भवन नहीं है।

पाठक के दिल में तक पहुँचने की इस यात्रा में एक बात महत्त्वपूर्ण है। लेखक को अपना दिल टटोल कर देखना चाहिए। उसके दिल में क्या है, कितना है! समाज के कल्याण के लिए उसके दिल में कितनी जगह है, इसका पता उसे करना चाहिए। वह क्या कहना चाहता है, क्या-क्या करना चाहता है, यह सब पता करना चाहिए। जिसे इन बातों का पता न हो, उसकी अभिव्यक्ति साफ नहीं होती न पाठक की श्रद्धा वह प्राप्त कर पाता है। इसलिए पहले लेखक को अपने हृदय की दिशा में यात्रा करनी चाहिए। कदाचित यही यात्रा पाठक के हृदय की दिशा में की गयी यात्रा है। या फिर, यह यात्रा उस यात्रा में परिवर्तित हो जाती है। हाँ, इसमें समय लगता है। यह यात्रा निश्शब्द होती है। साबुन के विज्ञापन की तरह इसमें कोई हल्ला-गुल्ला नहीं होता। क्रिया जब अपने समय पर परिणाम में घटित होगी तो लोग आश्चर्यचकित रह जाएँगे। लोग देखेंगे कि एक लेखक उत्पन्न हो चुका है, जिसकी पुस्तक घर-घर में पहुँच गयी है, घर-घर में आदरपूर्वक पढ़ी जा रही है।

इस स्थिति तक पहुँचने के लिए धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए। प्रतीक्षा करने में शालीनता और गरिमा का त्याग नहीं करना चाहिए। प्रत्येक लेखक शीर्ष स्थान तक नहीं पहुँच पाता, इस फैसले को भी विनम्रता के साथ ग्रहण करना चाहिए। यह विनम्रता अपने-आप में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। विनम्रता का विकल्प अहंकार नहीं होता। कबीर कहते थे—जब मैं था, तो तू नहीं, जब तू था मैं नाहिं। प्रेम गली अति साँकरी, जामे दो न समाहि।

जीवकान्त, ड्योढ़, 15.4.99

जाड़े का दर्द और लेखक की पीड़ा

(केदार कानन के नाम लिखा गया पत्र)

प्रियवर, यह पत्र आपके नाम लिखते हुए कई बातें सोच रहा हूँ। उनमें से एक बात यह कि यह पत्र आपके नाम न होकर किसी अन्य के नाम भी हो सकता है।

दिसम्बर माह के तीन चरण बीत चुके हैं। एक चरण बाकी है। वह अब बीतेगा। दिसम्बर में ज्यादातर समय पेट दर्द की वजह से खाट पकड़े रहा हूँ। खाट पकड़ना नहीं चाहता। इसका एक विशेष कारण है। गाँव छोड़कर सुपौल बाजार में डेरा डाले हूँ। पोखराम में पढ़ाता हूँ। उस गाँव के कुछ लोगों से जान-पहचान है। वह चीज इस जगह के साथ नहीं है। सुपौल में जिसकी दुकान में खाना खाता हूँ, चाय पीता हूँ, वे लोग भी मुझे नहीं पहचानते। और तो और, मकान मालिक हाफीज तक मुझे नहीं पहचानता। मैं भी ज्यादातर लोगों को चेहरे से ही पहचानता हूँ, नाम से नहीं। गाँव से दूर होकर, कटकर इस जगह नौकरी करने आया हूँ। नौकरी करना चाहता हूँ। गाँव से दूर रहकर देखना चाहता हूँ कि गाँव से दूर रहकर मैं कहाँ तक प्रसन्न रह पाता हूँ। नौकरी अब थोड़ी बच गयी है। बीस-पच्चीस माह का वेतन और लेने वाला हूँ। इस स्थिति में बीमार पड़ने का मन नहीं होता।

बीमार पड़ने के लिए भी चाहिए फुरसत, ठीक जगह और ठीक लोग-बाग जो पानी और पथ्य देने के लिए खड़े हो सकें।

रात में इन दिनों काफी ठंड पड़ रही है। रात को आठ बजते-बजते रजाई में घुस जाना अच्छा लगता है। रजाई में देह टनमना जाती है। ठंड से बच जाता हूँ। कमर के नीचे की हड्डियाँ और हड्डियों के जोड़ बहुत दर्द करते हैं। काठ हो जाते हैं, ठंड से लोग कठुआ जाते हैं, इस पद का अर्थ पहले कम समझता था, अब पूरी बात समझ में आयी है। रजाई के भीतर पड़े रहकर हड्डियों और जोड़ों में आफियत महसूस करता हूँ। यह अच्छा लगता है। तब यह समझ में आता है कि दिन-भर हड्डियाँ कितना दुखती हैं और कठुआती हैं।

मणियद्म ने एक बार चिट्ठी लिखकर प्रेरित किया था कि लेखक के लिए जाड़े का मौसम अच्छा होता है। जाड़े की रातों में लिखने के लिए पर्याप्त समय मिलता है। मैं नहीं जानता कि वर्मा जी (मणियद्म) को जाड़े में कौन-कौन-सी सुविधाएँ प्राप्त थीं और वह इस मौसम को लिखने के लिए क्यों सबसे अच्छा मानते थे। मुझे तो इस कनकनी-भरे जाड़े में बस रजाई में सुटुककर गरमाना और गरमाये रहना ही अच्छा लगता है। अब तो रजाई से हाथ बाहर निकालकर किताब खोलूँ और पढ़ूँ, यह भी तबीयत नहीं होती। सम्भव है कि वर्मा जी ने जवानी के दिनों के अपने अनुभव के आधार पर यह बात लिखी हो। और, मैं जो अनुभव आज कर रहा हूँ, वह बुढ़ाये का अनुभव है।

इस बीच एक बुरी बात हुई है। मैंने गद्य लिखना बिल्कुल ही छोड़ दिया है। उपन्यास-लेखन तो काफी पहले ही छोड़ दिया था, अब तो कहानी लिखना भी छूट गया है और लिखने के नाम पर सिर्फ कविताएँ ही लिख रहा हूँ।

कहानी और उपन्यास कागज पर लिखे जाने से पहले मन में, चित्त पर लिखे जाते हैं। इस प्रकार का चित्त अब बनता नहीं। ऐसा चित्त बनाने के लिए बहुत कुछ छोड़ देना होगा। सम्भव है, कविता लिखना छूट जाये। कम-से-कम जिस तरह और जितनी कविताएँ लिखता हूँ, वह बन्द हो जाये। वह चित्त नष्ट हो। यह भी पसन्द नहीं आता। चित्त बनते-बनते बनता है। किसी बनी-बनायी वस्तु को जान-बूझकर, उपेक्षा करके नष्ट कर दूँ, यह भी सही नहीं लगता।

एक ही साथ ही यदि दोनों चीजें हो पातीं तो कितना अच्छा होता! लेकिन ऐसा कहाँ होता है! रामायण में तुलसीदास ने लिखा है—'दुहू न होई इक संग भुआलू। हँसब ठठाइ, फुलाउब गालू॥' यह बात सहसा याद आती है।

लिखने लगता हूँ तो अक्षर धुँधले दिखते हैं। इसकी वजह है कि दोनों आँखों से दो अलग-अलग बिम्ब बनते हैं। चित्र अस्पष्ट हो जाते हैं। इसलिए लिखते समय भी अपने ही अक्षर कागज पर जन्म लेते, प्रकट होते है। दिखते हैं लेकिन बेतरतीब फैले हुए, धुँधले। आपने गौर किया होगा—पहले की तुलना में ज्यादा बड़े-बड़े अक्षर लिखने लगा हूँ। जानकर ऐसा करता हूँ। इस तरह लिखने से ही अपना लिख पढ़ने योग्य हो पाता है।

सितम्बर में आँख के डॉक्टर से मिला था। उन्हें मैंने बताया कि चीजें सभी दिखती हैं लेकिन बिम्ब अस्पष्ट होता है, इसे ठीक कीजिये। उन्होंने आश्वासन दिया कि शीशा बदल देने से यह दोष ठीक हो जाएगा। शीशा बदल लिया है। दोष ठीक नहीं हुआ। सम्भवतः बढ़ ही गया है। ज्येष्ठ पुत्र ने इस दोष के बारे में पूछा। मैंने बताया कि यह दोष अब ठीक नहीं होगा। ऑप्टिक नर्व (दृष्टि-नाड़ी) अब शिथिल हो गयी है। अब उसमें इतनी ही सामर्थ्य बची है।

करने योग्य काम बहुत सारे पड़े हुए हैं। अब ही तो करने योग्य बुद्धि परिष्कृत हुई है। लेकिन बाधा है, बाधाएँ अनेक हैं। चाहता हूँ, कुछ करूँ। कुछ अवश्य ही करूँगा। कुछ अवश्य ही करता रहूँगा।

इधर मेरा कविता-संग्रह 'खाँड़ो' आया है। बड़े ही मनोरथ से इसे छपवाया है। जो भी कोई देखता है, एक ही बात कहता है—'कविता है? अब कोई गद्य की पुस्तक लाइये—कहानी या उपन्यास...'

यह बात बुरी लगती है। अच्छा लगता यदि यह सुनता—'कविता-पुस्तक है? लाइये, पढ़कर देखता हूँ कि आपकी कविता में क्या सब परिवर्तन और विकास हुआ है!'

मैं जानता हूँ—हम लोगों का पाठक नहीं है, न कविता का पाठक, न गद्य

का। मैं यदि इनकी बात मानकर उपन्यास भी लिख दूँ तो ये नहीं पढ़ेंगे। ये केवल कहना जानते हैं, पढ़ना नहीं।

जैसे पाठक जानता है कि लेखक के पास अब कहने के लिए कोई नयी बात नहीं बची, उसी तरह लेखक को भी पता होता है कि पाठक के पास नया कुछ पढ़ने की इच्छाशक्ति नहीं बची है। वह कवर देखने के लिए हाथ में किताब लेता है। उलट-पुलटकर किताब छोड़ देता है कि फुरसत मिलने पर पढ़ लेगा। फुरसत की वह घड़ी न वह बना पाता है, न वह कभी आती है।

एतद्धि।

भवदीय अग्रज
जीवकान्त
21.12.1996

पुनश्च,

यह पत्र नारायण जी को भेजा जाए, यह बात चित्त में आयी थी। लेकिन, गाँव से लौटने के बाद तय किया कि इसे केदार कानन को भेजा जाए।

जीवकान्त

मैथिली को बचे रहना चाहिए

(केदार कानन के नाम लिखा गया पत्र)

प्रिय केदार, आपने सूचना नहीं दी कि आपकी नौकरी की सम्भावना में कितनी प्रगति है!

'खिखिरिक बीआरि' (बालकविता-संग्रह) के हिन्दी अनुवाद की बात आपने कही। अनुवाद किया जा सकता है। उसका एक रस होता है। जिसे (जिसे रसिया को) यह रस मिले, वह उसे हाथे में ले सकता है।

मैं भी इस प्रकार का काम कर चुका हूँ। अपनी ही बाल-कविताओं (संग्रह 'छाह सोहाओन' और 'गाछ झूल-झूल') में से दस-बीस का हिन्दी में, छन्द में (तद्वत छन्द में) अनुवाद किया है। कहीं-कहीं भेज दी है।

लेकिन, इधर अब यह काम मैं नहीं करूँगा। कहानी लिखने के बारे में सोच रहा हूँ।

आप यदि अनुवाद करना चाहें तो कीजिये। जिन शब्दों के अनुवाद में बाधा न हो रही हो, वह समस्या नहीं हुई। जिसका अनुवाद सन्तोषजनक न हो या रहा हो, वहाँ मैथिली का मूल शब्द ही रहने दिया जाए। इसका समाधान यह कि उसे ठेठ मैथिली शब्द की व्याख्या, उसी पृष्ठ पर फुटनोट में दे दिया जाए।

उस दिन कवि कृष्णमोहन झा ने एक बात कही कि मैथिली का हिन्दीकरण हो रहा है। इस प्रकार की मैथिली को 'मैथिन्दी' कहा जा सकता है। 'मैथिन्दी' शब्द अभी-अभी मेरी सोच में आया है। जैसे, मिक्स हिन्दी को 'हिंगलिश' कहा जाता है।

यह मिश्रण-अधिमिश्रण होता आया है। ब्रजभाषा और मैथिली को मिलाकर वैष्णव साहित्य रचा गया, जिसे बंगाल और असम में व्रजबुलि कहा गया।

मैथिली से हिन्दी विकसित हुई है। इसीलिए हिन्दी को अरबी, फारसी, मैथिली से शब्द लेने से घाटा नहीं है, लाभ है। इन सारी भाषाओं से उधार लेने में हिन्दी श्रीमन्त होती है, मजेदार होती है। इसके विपरीत मैथिली में हिन्दी का शब्द लाना भोजन में मिले कंकड़ की तरह अवांछनीय और कु-सुस्वादु लगता है। लेकिन, 'मैथिन्दी' को चलना है। उसका कोई प्रतिकार नहीं है।

इधर, प्रेमचन्द के विचार पढ़ रहा हूँ। वह कहते हैं कि स्थानीय शब्दों का प्रयोग न किया जाए, इससे भाषा के व्यापक प्रचार में बाधा आती है। कहने-सुनने तक यह बात ठीक लगती है। लेकिन, स्वयं प्रेमचन्द की अनेक कहानियों में काशी-मथुरा जनपद के शब्द स्वतः आये हैं। इन्हें वह वंचित नहीं कर पाये। प्रेमचन्द के वे देशज शब्द हमें भी अर्थ देते हैं, इसकी वजह यह है कि मिथिला और व्रज की भाषाओं में बहुत कुछ है जो साझा है। भाषा साझा है, जीवन-प्रणाली साझा है। काशी-मथुरा जाना प्राचीन काल में भी, बहुत सामान्य बात थी। गंगा के उत्तरी भाग में पड़ने के कारण यह विशाल क्षेत्र एक ही प्रकार की आर्थिक, सामाजिक कष्ट और असुविधा, निर्धनता और दीनता, विकासहीनता की पीड़ा साथ-साथ भोगता आया है। एक बात और। जनकपुर से अयोध्या में मैथिल कन्या गयी थी। इससे दोनों स्थानों की भाषाओं के बीच एक सम्बन्ध बना जो बहुत मधुर और सम्मानजनक रहा।

मैथिली जिस दिन हिन्दी को जन्म देने में उपयोगी समझी गयी थी, उन दिनों भी वह हिन्दी को स्नेह की दृष्टि से देखती थी। आज भी अपनी शब्द-सम्पदा हिन्दी से बाँटने में मैथिली को कहीं दुविधा नहीं होती।

मैथिली को बचे रहना चाहिए। मैथिली में अरबी-फारसी के शब्द रूप और चाल बदलकर आये हैं और मैथिली में एकाकार हो गाये हैं। हिन्दी के शब्द लेकिन, इस जगह आकर बेढ़ब लगते हैं, और आघात पहुँचाते हैं।

—जीवकान्त

जीवकान्त का जाना

छूटे हुए जरूरी हिस्सों से संवाद

—अविनाश

पिछले दस सालों में जीवकांत जी के दस पोस्टकार्ड आये होंगे। मैंने शायद एक भी नहीं भेजा होगा। यह कर्तव्य निबाहने और कर्तव्य से चूकने का अंतर नहीं है। जीवकांत जी जैसे कुछ लोग हमेशा रिश्तों को लेकर सच्चे होते हैं और हम जैसे लोग मिट्टी के छूटने के साथ ही मिजाज से भी छूट जाते हैं। ऐसा लगता है कि आगे का थोड़ा और पा लेते हैं, फिर पीछे का भी सब समेट लेंगे। ग्लानि तब होती है, जब पाने-छोड़ने के इस खेल में कुछ चीजें हमेशा के लिए छूट जाती हैं।

जीवकान्त जी छूट गये हैं। बुधवार की दोपहर पटना के एक अस्पताल में उनका निधन हो गया। वे मैथिली के लेखक थे। सहज कवि, सरल कथाकार और सहृदय आलोचक। सन 36 में जन्मे जीवकान्त जी पेशे से हाईस्कूल के मास्टर थे। उनके कई छात्रों ने बड़े-बड़े सरकारी पद हासिल किये, लेकिन उन्हें अगाध खुशी मिलती थी जब कि कोई कहता था, माट साब आपकी ही प्रेरणा से मैंने मैथिली में लिखना शुरू किया है। मैं उनका छात्र तो नहीं रहा, पर जब अपनी भाषा के बारे में जानना शुरू किया, तो परंपरावादियों के खिलाफ विनम्रता से जीवकान्त जी ही मुझे खड़े मिले। झा और मिश्रा की मैथिली में उनका विद्रोह अपने नाम में से झा को मिटाने से शुरू हुआ था। उनकी एक कविता पंक्ति है—गांव राजपुरूष की भौंह की तरफ नहीं, पीपल के तले रखी गणपति की सिंदूर से लेपी हुई प्रतिमा को निहारता है।

उनकी कविताओं में छंद नहीं था, मिट्टी की लय थी। बातों की ताकत में विश्वास करते थे, अंदाज की कलाकारी से दूर थे। इस मायने में हम कह सकते हैं कि वे मैथिली कविता के शमशेर थे। सबसे आकर्षक पहलू ये था कि नये लोगों की रचनात्मकता को लेकर वे कभी संशय में नहीं रहते थे। यही वजह है कि जब सन 93-94 में मैंने अपने नवतुरिया उत्साह में मैथिली की एक पत्रिका निकालने के बारे में सोचा, तो पहली चिट्ठी उनको लिखी। अगली डाक से उनकी सोलह कविताएं मुझे मिली। 'भोर' नाम की उस पत्रिका के पहले अंक में सिर्फ वही सोलह कविताएं छपीं।

उन्हीं दिनों उनका एक पोस्टकार्ड मुझे मिला, जिसमें सहरसा के कालिकाग्राम में रहने वाले गौरीनाथ नाम के किसी युवक के बारे में था। गौरीनाथ को भी उन्होंने एक पोस्टकार्ड मेरे बारे में लिख कर भेजा। फिर हम दोनों ने एक दूसरे को जीवकान्त जी के हवाले से चिट्ठी लिखी और मित्र हुए और प्रगाढ़ मित्र हुए। ऐसे कई-कई पत्र-मिलन समारोहों के जरिये उन्होंने कई लोगों को कई लोगों से जोड़ा। जीवकान्त जी मैथिली के सद्यःनवीन लेखकों से उसी तन्मयता से मुखातिब रहते थे, जैसे भविष्य से वार्तालाप कर रहे हों।

मुझे याद है, जब मैं दरभंगा में रहता था, कई बार डेओढ़ के लिए निकल जाता था। डेओढ़ जीवकान्त जी के गांव का नाम है, जो मधुबनी के एक बड़े ब्लॉक झंझारपुर से आगे घोघरडीहा स्टेशन के पास है। घोघरडीहा में मैथिली के एक विलक्षण कवि नारायणजी के यहां रूकता था और दिन भर जीवकान्त जी के साथ रहता था। वे दोपहर को नियमित अपने समकालीन से लेकर युवतर मित्रों को पत्र लिखा करते थे। कहते थे, भाषा का रियाज पत्र लिखने से बना रहता है। जब लौटता था, तो वे कई सारी किताबें एक झोले में भर कर दे देते थे। कहते थे, सबको पढ़ लेना। नहीं भी पढ़ना हो तो कोई बात नहीं। उन्हीं किताबों में से एक शंकर का उपन्यास था, 'चौरंगी'। इस उपन्यास का हिन्दी अनुवाद राजकमल चौधरी ने किया है। एक बार ऐसा हुआ कि शंकर रांची आये थे, तो प्रभात खबर के प्रधान संपादक हरिवंश जी ने उनसे मिलने और बात करने के लिए मुझे भेजा। संयोग से उन्हीं दिनों जीवकांत जी अपने बेटे के पास रांची आये थे, तो मेरे घर आकर भी रूके।

एक बार जब मुझे फोटोग्राफी का शौक चढ़ा, तो मैथिली की दो पीढ़ियों की संवाद श्रृंखला की चित्र-रचना जीवकांत जी और तारानंद वियोगी के रूप में तैयार की। महाराज दरभंगा के किले में मौजूद काली मंदिर के सामने के तालाब की सीढ़ियों पर बैठे दोनों लेखकों की कई तस्वीरें वियोगी जी के पास अब भी सुरक्षित हैं।

जीवकांत जी नहीं रहे। इस वक्त मैं खुद से ये वादा करना चाहता हूं कि मैं अपने छूटे हुए जरूरी हिस्सों से संवाद शुरू करूंगा। अतीत से संवादहीनता की नयी संस्कृति का शिकार होने के लिए हम खुद जिम्मेदार हैं।

अव्यक्त की पुकार

–रमेश थानवी

मेरी जीवकान्त जी से मुलाकात एक दैविक घटना है। मैं वैसे इसे 'डिवाइन डिजाइन' कहता हूँ। कहूँ भी क्या? मुलाकात कहना भी तो गलत है। हम कभी मिले भी नहीं। आज तक नहीं-और वे चले गये।

इस मुलाकात में मैं उनको कितना जान पाया यह तो मैं नहीं कह सकता मगर यह मैं जरूर कह सकता हूँ कि वे मुझे मुझसे अधिक जान गये थे। जान कर उन्होंने मेरे परिचय में अन्य लोगों से मेरी पहचान को व्यक्त भी कर दिया था। मैं तब भी चकित था और आज भी चकित हूँ। बिना किसी से मिले किसी के स्वरूप व स्वभाव को इस प्रकार जान लेना जीवकान्त जी के लिए ही संभव था। उनके नितांत निस्वार्थ प्रेम के कारण। सहज स्नेह के कारण। निर्मल हृदय के कारण। अपनी स्वभावगत सरलता और उदारता के कारण। मैं उनसे कभी मिला नहीं मगर दूर बैठे उनसे हुई फोनफ्रैसिंग के कारण और उनके हाथ से लिखे लंबे पत्रों के कारण मैं जान पाया कि वे सार्वजनीन मैत्री की मुदिता में सदा अवस्थित रहते थे। मैं भी इस मैत्री से कृतार्थ हुआ था।

मेरे भाई, उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के बारे में कुछ भी कहने का अधिकारी मैं नहीं हूँ। मगर यह सच है कि उनके कृतित्व ने ही मुझे उनसे मिलवाया था। प्रसंग यह है कि समकालीन भारतीय साहित्य में उनकी कुछ मैथिली कविताएं उनके अपने हिन्दी अनुवाद के साथ छपी थीं। मुझे कविताओं के कथ्य और काव्यलोक में कोई सरल, विरल और समर्थ कवि खड़ा दीखा था। सर्वथा उजला और आलोकित। मैं अपने को रोक नहीं पाया। वहीं छपे उनके पते पर उनको पत्र लिख डाला। अपनी पत्रिका के बहुत सारे अंक उनको भेज दिये। मुझे क्या मालूम था कि कोई सगे भाई सरीखा समर्थ कवि बाँहें पसारे मुझे थाम लेने को बेताब है। सब कुछ जैसे पल भर में घट गया था। वैसे कोई भी अंदाज लगा सकता है कि जयपुर से ड्योढ़ चिट्‌ठी पहुँचने में कोई वक्त तो लगा ही होगा, मगर शुद्ध प्रेम के प्रवाह में काल और दूरियाँ 'टाइम एण्ड स्पेस' सब लय-विलय हो जाते हैं। सिर्फ आलोक और आनन्द

की अनुभूति होती है। मैं इस सुख का स्वयं द्रष्टा हूँ। इसे पा लेने और अब तक जी लेने वाला। जीवकान्त जी के जाने के बाद थी।

यहाँ यह बता देना जरूरी है कि जीवकान्त जी को पढ़ने और पत्र लिखने से पहले मैंने ड्योढ़ गाँव का नाम ही नहीं सुना था। घोघरडीहा के बारे में जरूर सुना था। वहाँ के एक प्रगतिशील लेखक/ कथाकार संभवतया जरूर किसी सभा-गोष्ठी में मिल गये थे। नाम शायद मधुकर जैसा कुछ था। नहीं कह सकता कि नाम सही याद है। मगर नियति का एक खेल यह भी है कि उनसे मिला तब तक जीवकान्त जी कहीं प्रकट ही नहीं हुए थे। बाद में न उनसे मिलना हुआ न कोई पत्राचार। वैसे भी मेरे अंतर के तार कहीं आसानी से जुड़ते नहीं और जुड़ जायें तो वे मेरी जीवन-साधना बन जाते हैं। उस मैत्री-साधना में जागरण है और गहरा दुख है। 'जो जागे सो रोवे' क्षमा करें, यह तो मेरी व्यथा-कथा है। इस पर गौर न करें। बताना सिर्फ यह था कि जीवकान्त जी का मिलना और उनका उन्मुक्त प्यार पाना मेरे लिए एक आध्यात्मिक अनुभूति था। सुख था। फोन पर सुनी उनकी मधुर वाणी में जो आत्मीयता थी वह विभोर कर देती थी। फिर सुनाई पड़ता था एक ठहाका जो उसी क्षण मुझे मुक्त कर देता था। यह मुक्ति पल भर की होती थी मगर मैं तब कहीं और होता था। क्षमा करें उस सब के लिए मेरे पास शब्द नहीं। आदि शंकर की भाषा में जो 'अव्यक्तानि' था, वही सब यह भी था।

जीवकान्त जी ने मेरे निवेदन पर बहुत कुछ लिखा। 'अनौपचारिका' जैसी अज्ञात-सी पत्रिका धन्य हुई। एक बार नहीं। बार-बार। उन्होंने मेरे आग्रह को कभी टाला नहीं। शायद कोई कविता भी छपी थी तब। मगर एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि उनकी आत्मकथात्मक डायरी के भी कुछ अंश मैंने प्रकाशित किये थे। आप लोग कभी आकर वह सारा खजाना ले जायें, अच्छा होगा।

(केदार कानन के नाम लिखे पत्र का अंश)

❑ ❑ ❑